ISSN-0971-8397

योजना

अगस्त 2020 विकास को समर्पित मासिक ₹ 22

सांस्कृतिक विविधता

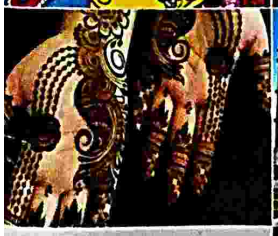

प्रमुख आलेख

भारतीय संगीत का दार्शनिक स्वरूप

डॉ प्रांशु समदर्शी

फोकस

पूर्वोत्तर क्षेत्रः अनुपम आत्मीय संबंध

डॉ ताप्ती बरुआ कश्यप

विशेष आलेख

ग्रामीण अर्थव्यवस्था के उद्धार में बांस की भूमिका

सुरेश प्रभु

क्या आप जानते हैं?

छाया कठपुतली नाटक की परंपराएं

भारत में छाया कठपुतलियों से जुड़ी अलग-अलग शैलियों की समृद्ध विरासत रही है। छाया कठपुतलियों का आकार बिल्कुल सपाट होता है। इन्हें चमड़े से तैयार किया जाता है। छाया कठपुतलियों को परदे के पीछे से नियंत्रित किया जाता है और पीछे से तेज रोशनी मुहैया कराई जाती है। परदे और रोशनी के बीच संयोजन से दर्शकों के लिए रंगीन छायाएं तैयार होती हैं। छाया कठपुतलियों की परंपरा ओडिशा, केरल, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र और तमिलनाडु में है। देश के अलग-अलग क्षेत्रों में **छाया कठपुतली नाटक** से जुड़ी **छह शैलियां** हैं। इन्हें स्थानीय तौर पर इस तरह जाना जाता है: **महाराष्ट्र** में चमाद्याचा बाहुल्य, **आंध्र प्रदेश** में थोलू बोम्मलाटा, **कर्नाटक** में तोगालु गोमबेयाट्टा, तमिलनाडु में टोलु बोम्मलाट्टम, **केरल** में तोलपव कुथु, **ओडिशा** में रावणछाया।

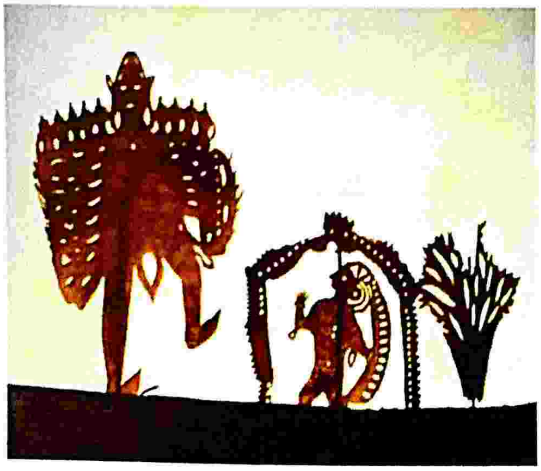

कर्नाटक में छाया नाटक को तोगालु गोमबेयाट्टा के नाम से जाना जाता है। इन कठपुतलियों का आकार इनकी सामाजिक हैसियत से अलग-अलग होता है। उदाहरण के लिए, राजा और धार्मिक किरदारों से जुड़ी कठपुतलियों का आकार बड़ा होता है, जबकि आम लोगों से जुड़े किरदारों का आकार छोटा होता है।

आंध्र प्रदेश के इस छाया नाटक की परंपरा बेहद समृद्ध और मजबूत है। थोलू बोम्मलाटा शैली की कठपुतलियों का आकार बड़ा होता है और इसमें जरूरी सामग्री के जरिये कमर, कंधे, कुहनी और घुटने को भी दिखाया जाता है। कठपुतलियों को दोनों तरफ से रंगा जाता है। इस वजह से ये कठपुतलियां परदे पर रंगीन छाया के तौर पर नजर आती हैं। इसमें संबंधित क्षेत्र का शास्त्रीय संगीत भी पेश किया जाता है और कठपुतली नाटक का विषय रामायण, महाभारत और पुराणों पर आधारित होता है।

ओडिशा की रावण छाया कठपुतली शैली वाले नाटक भी काफी दिलचस्प होते हैं। इस शैली में कठपुतलियों में किसी तरह का 'जोड़' नहीं होता है। इसे तैयार करने में काफी मेहनत लगती है। साथ ही, इसे बनाते समय प्रमुख नाटकीय भंगिमाओं को ध्यान में रखा जाता है। इंसान और पशुओं से जुड़े किरदारों के अलावा, पेड़, पहाड़, रथ आदि की छवियों का भी इस्तेमाल किया जाता है। हालांकि, रावणछाया कठपुतलियों का आकार छोटा होता है। सबसे बड़ी कठपुतली दो फुट से ज्यादा की नहीं होती। इस शैली में बेहद संवेदनशील और काव्यात्मक अंदाज देखने को मिलता है।

बेशक इन शैलियों की अपनी अलग-अलग पहचान, भाषाएं और बोलियां हैं, मगर उनकी विषय-वस्तु, सौंदर्य और नजरिया एक जैसा है। इन कठपुतली शैलियों से जुड़ी कहानियां मुख्य तौर पर रामायण और महाभारत, पुराण, लोक कथाओं आदि पर आधारित होती हैं। इन नाटकों में मनोरंजन के अलावा ग्रामीण समुदाय के लोगों के लिए महत्वपूर्ण संदेश भी होता है। नाटकों का प्रदर्शन गांव के किसी सार्वजनिक स्थान या मंदिर के प्रांगण में किया जाता है। कठपुतलियों के किरदार हास्य रस का भी अनुभव कराते हैं। छाया कठपुतली से जुड़ी सभी नाटक परंपराओं में नृत्य और लय भी मौजूद होता है। इन कठपुतलियों को परदे के पीछे से नियंत्रित किया जाता है। छाया पैदा करने के लिए परदे के पीछे से रोशनी भी मुहैया कराई जाती है। कठपुतलियों के नाटक और नृत्य हमारे त्योहारों का हिस्सा रहे हैं। ग्रामीण इलाकों में कभी-कभी बुरी चीज़ों को खत्म करने और इंद्र देवता को प्रसन्न करने के लिए ऐसे प्रदर्शन आयोजित किए जाते हैं। भारत में छाया कठपुतलियों की छह परंपराएं देश के अलग-अलग हिस्सों से हैं। देश के पश्चिम हिस्से महाराष्ट्र के अलावा दक्षिण भारतीय राज्यों- कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु और केरल में भी यह परंपरा मौजूद है। इसके अलावा देश के पूर्वी हिस्से ओडिशा में इसकी मौजूदगी है। आंध्र प्रदेश में किलेकायत/अरे कपू समुदाय के लोग इससे जुड़े हैं, जबकि कर्नाटक में किलेकायत/दायत समुदाय इस कला के लिए काम करते हैं। इसी तरह, केरल में नायर समुदाय, महाराष्ट्र में ठक्कर समुदाय के लोग इस कला से जुड़े हैं। ओडिशा में भाट समुदाय के लोग इसका प्रदर्शन करते हैं। तमिलनाडु में किलेकायत समुदाय के लोग इससे जुड़े हैं। ■

योजना

वर्ष : 64
अंक : 8

अगस्त 2020
श्रावण-भाद्रपद, शक संवत् 1942

मूल्य : ₹ 22
पृष्ठ : 60

वेबसाइट www.publicationsdivision.nic.in

प्रधान संपादक : धीरज सिंह
वरिष्ठ संपादक : कुलश्रेष्ठ कमल
संपादक : डॉ ममता रानी

संपादकीय कार्यालय
648, सूचना भवन, सीजीओ परिसर,
लोधी रोड, नयी दिल्ली-110 003
दूरभाष (प्रधान संपादक): 24366672

उत्पादन अधिकारी : के रामालिंगम
आवरण : गजानन पी धोपे

योजना का लक्ष्य देश के आर्थिक विकास से संबंधित मुद्दों का सरकारी नीतियों के व्यापक संदर्भ में गहराई से विश्लेषण कर इन पर विमर्श के लिए एक जीवंत मंच उपलब्ध कराना है।

योजना में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। जरूरी नहीं कि ये लेखक भारत सरकार के जिन मंत्रालयों, विभागों अथवा संगठनों से संबद्ध हैं, उनका भी यही दृष्टिकोण हो।

योजना में प्रकाशित विज्ञापनों की विषयवस्तु के लिए योजना उत्तरदायी नहीं है।

योजना में प्रकाशित आलेखों में प्रयुक्त मानचित्र व प्रतीक आधिकारिक नहीं है, बल्कि सांकेतिक हैं। ये मानचित्र या प्रतीक किसी भी देश का आधिकारिक प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं।

योजना मंगवाने की दरें
एक वर्ष: ₹ 230, दो वर्ष: ₹ 430, तीन वर्ष: ₹ 610

पत्रिका न मिलने की शिकायत अथवा
योजना की सदस्यता लेने या
पुराने अंक मंगाने के लिए
pdjucir@gmail.com पर ईमेल करें
या संपर्क करें-
दूरभाष: 011-24367453
(सोमवार से शुक्रवार सभी कार्य दिवस पर
प्रात: 9:30 बजे से शाम 6:00 बजे तक)

पत्राचार का पता :
गौरव शर्मा, संपादक, पत्रिका एकांश
प्रकाशन विभाग, कमरा सं. 56, भूतल,
सूचना भवन, सीजीओ परिसर, लोधी रोड,
नयी दिल्ली-110003

इस अंक में

प्रमुख आलेख

भारतीय संगीत का दार्शनिक स्वरूप
डॉ प्रांशु समदर्शी 6

फोकस

पूर्वोत्तर क्षेत्र: अनुपम आत्मीय संबंध
डॉ ताप्ती बरुआ कश्यप..... 13

विशेष आलेख

ग्रामीण अर्थव्यवस्था के उद्धार में
बांस की भूमिका
सुरेश प्रभु..... 19

विविधता से परिपूर्ण महाराष्ट्र
मीनल जोगलेकर.....23

विविधता में एकता की शक्ति
अशोक कलारिया.....30

मोटे अनाज की संस्कृति: एक अवलोकन
पल्लवी उपाध्याय.....34

तमिलनाडु के मंदिरों के शिलालेख
प्रदीप चक्रवर्ती.....38

नृत्य से सामंजस्य
वीणा मणि.....42

क्षेत्रीय सुरक्षा : भारत-चीन संबंध
डॉ श्रीकांत कोंडापल्ली.....47

पारंपरिक नाट्य मंच.....50

भारत की लोक और जनजातीय कला.....52

राष्ट्रीय ध्वज का निर्माण
बसवप्रभु होसकेरी.....54

योजना-सही विकल्प.....56

नियमित स्तंभ

क्या आप जानते हैं?
छाया कठपुतली नाटक की परंपराएं... कवर-2

पुस्तक चर्चा.....58

विकास पथ
एक भारत श्रेष्ठ भारत.....कवर-3

प्रकाशन विभाग के देश भर में स्थित विक्रय केंद्रों की सूची के लिए देखें पृ.सं. 18

@DPD_India

हिंदी, असमिया, बांग्ला, अंग्रेजी, गुजराती, कन्नड़, मलयालम, तमिल, तेलुगु, मराठी, ओडिया, पंजाबी तथा उर्दू में एक साथ प्रकाशित।

'विविध परिदृश्य' सामग्री संस्कृति मंत्रालय से साभार

संपादकीय

संस्कृतियों का संगम

''इस विश्व में सच्चा आनंद मनुष्य के सही इहलौकिक लक्ष्यों में निहित है और सच्चा आनंद आत्मा, मन और शरीर के बीच स्वाभाविक समन्वय स्थापित करने और उसे बनाए रखने में है। किसी संस्कृति का मूल्यांकन इस बात से होता है कि उसने सामंजस्य की इस स्थिति को प्राप्त करने और अपने अभिव्यंजनात्मक उद्देश्यों और गतिविधियों के सही माध्यमों को किस सीमा तक खोज लिया है।''

– भारतीय संस्कृति पर श्री अरविन्द के विचार

कला और संस्कृति हमारी इंद्रियों के लिए आनंद का विषय हैं। कलात्मक अभिव्यक्तियों में कुछ ऐसी क्षमता होती है कि कभी-कभी ये हमें सामान्य, लौकिक जीवन से परे भावातीत लोक में ले जा सकती हैं। ईश्वर पर आस्था रखने वालों ने जब सर्वशक्तिमान और उसकी सृष्टि की प्रशंसा के लिए गाने, नाचने, चित्रांकन या प्रदर्शन जैसी किसी एक कलाविधा को चुना तो उसका यही प्रयास कला और संस्कृति के जरिए आध्यात्मिक संपर्क का माध्यम बना। जब कलाकार इनमें से किसी एक विधा में अपने को तल्लीन कर लेते हैं तो वे जीवन से परे किसी वृहत्तर सत्ता के साथ जुड़ाव अनुभव करते हैं और ऐसे में वे अपने दर्शकों को जो अनुभव कराते हैं वह कला की सम्मोहित करने वाली प्रकृति को दर्शाता है।

भारतीय समाज का ताना-बाना संगीत, नृत्य और वास्तुशिल्प की विभिन्न विधाओं, उत्सव-त्योहारों, दृश्य और निष्पादन कलाओं, लोकगाथाओं तथा रीति-रिवाजों से मिलकर बना है। ये सब मिलकर समाज की सामूहिक पहचान कायम करते हैं। ये विभिन्न कला विधाओं के माध्यम से लोगों को एक विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान भी प्रदान करते हैं।

सदियों पुरानी कहावत 'कोस-कोस पर पानी बदले, चार कोस पे वानी' देश भर में नदियों की लहरों की तरह प्रवाहित होने वाले भाषायी रूपों की विविधता को दर्शाती है। सदियों के ऐतिहासिक उद्विकास से हमारी संस्कृति और भी अधिक समृद्ध हुई है और उसने सभी के सर्वोत्कृष्ट तत्वों को अंगीकार और आत्मसात कर समग्र संस्कृति की एक नयी धारा को जन्म दिया है। इस अनोखी विविधता में नयी गाथाएं उपजी हैं-ऐसी गाथाएं जो लोगों, उनकी जीवन शैलियों, उनके उत्सव-त्योहारों तथा उनकी उत्सवधर्मिता और कला विधाओं को आकार प्रदान करती हैं। ये गाथाओं का विभिन्न क्षेत्रों के साथ अपना अलग संवाद कायम करती हैं। देश में सुदूर पूर्व से लेकर सुदूर दक्षिण तक रामायण और महाभारत की गाथाओं को छाया-कठपुतलियों से ले कर विभिन्न प्रकार की निष्पादन कला विधाओं में प्रस्तुत किया गया है। भारत में गायन परम्पराओं और अभिव्यक्तियों तथा निष्पादन कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति के अनगिनत रूप हैं। सामाजिक रीति-रिवाज, परम्पराएं और उत्सव, प्रकृति और समूचे ब्रह्मांड से संबंधित परम्पराएं और पारम्परिक हस्तशिल्प जैसी चीजें हमारी अमूर्त बिरासत की लंबी सूची का हिस्सा हैं।

'योजना' के इस अंक में हम एक राष्ट्र के रूप में भारत की उस धारणा की महिमा बताने का प्रयास है जिसमें देश के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों की विविधतापूर्ण संस्कृतियां समाहित और समन्वित होकर एक-दूसरे से संवाद कायम करती हैं और जिसकी भव्य अभिव्यक्ति हमारे विविधतापूर्ण खान-पान, संगीत, नृत्य, रंगमंच, सिनेमा और फिल्मों, हस्तशिल्प, खेलकूद, साहित्य, उत्सव-त्योहारों, चित्रकला, मूर्तिकला आदि के रूप में होती है। इससे लोगों को हमारी संस्कृति में अंतर्निहित समन्वय और एकात्मता की स्वाभाविक भावना को समझने में मदद मिलती है। मैं अपने लेख का इस विनम्र निवेदन के साथ समापन करना चाहूंगा कि सीमित संख्या में पृष्ठों वाली पत्र-पत्रिकाएं भारतीय संस्कृति जैसे व्यापक और बहुआयामी विषय के साथ न्याय नहीं कर सकतीं। तमाम भूल-चूक के बावजूद यह अंक हमारी विविधतापूर्ण समृद्ध संस्कृति, विरासत व परम्पराओं की रंगबिरंगी झलक को पूरी समग्रता में प्रस्तुत करने और उन्हें आपस में जोड़ने वाले सूत्रों को उजागर करने का प्रयास है। आखिरकार संस्कृति का निर्माण लोग करते हैं और वही इसे आने वाली पीढ़ियों को सौंपते हैं।

'योजना' के इस अंक की सफलता इस तथ्य में निहित है कि इससे पाठकों को उनके अपने राज्य से काफी भिन्न राज्यों और उनकी संस्कृतियों के बारे में बड़े खूबसूरत तरीके से लिखे गये लेखों के जरिए जानने-समझने का मौका मिलेगा। इससे वे कुछ नया भी सीख पाएंगे और अपने ही लोगों के साथ और भी बेहतर तरीके से संवाद स्थापित कर सकेंगे। ■

भारतीय संगीत का दार्शनिक स्वरूप

डॉ प्रांशु समदर्शी

भारतीय शास्त्रीय संगीत ने भारत की समग्र संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है। इसके अलावा, भारतीय शास्त्रीय संगीत के संबंध में, यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि 'शास्त्रीय' शब्द केवल यह सुझाता है कि शास्त्र की मौलिक परंपरा के अनुसार इसका आधार नियत परिपाटी का अनुसरण करता है। इस संगीत का भारतीय नाम शास्त्रीय संगीत है। इसे कभी-कभी राग संगीत के रूप में भी जाना जाता है क्योंकि यह राग है जो इस कला विधा की संरचना के केंद्र में है। इस प्रकार, 'शास्त्रीय' शब्द किसी पुरानी शैली या समय-अवधि को नहीं दर्शाता है जैसा कि पश्चिमी संगीत परंपरा में मौजूद है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत चाहे वह हिंदुस्तानी हो या कर्नाटक उसमें अनिवार्य रूप से एक आध्यात्मिक अंश अन्तर्निहित होता है। इस संगीत का उद्देश्य असाधारण अनुभव प्रदान करना है जो श्रोताओं को एक निराकार और अवर्णीय लोक में ले जाता है। हालांकि विश्व में संगीत की कई महान परंपराओं का किसी-न-किसी प्रकार की आध्यात्मिकता के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध है फिर भी भारतीय शास्त्रीय संगीत इस पर विशेष महत्त्व देता है।

भारतीय संगीत के इतिहास पर नज़र डालें तो ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से मंदिर शास्त्रीय संगीत की कलात्मक अभिव्यक्तियों के कई विविध रूपों के लिए एक मंच प्रदान करते रहे हैं। और यह भक्ति या नि:स्वार्थ श्रद्धा थी जो भारत में विकसित विभिन्न कला रूपों का अंतर्निहित सार बनी। भारतीय शास्त्रीय संगीत के कलात्मक सिद्धांतों को इस तरह से सूत्रबद्ध और संरचित किया गया है कि यह संगीतकारों के लिए एक आंतरिक यात्रा का माध्यम बन जाता है और वे अपने अंतर्मन से कहीं गहरे जुड़ जाते हैं। यह एक कारण है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत का वर्णन करने में 'आध्यात्मिक' शब्द का बहुधा उपयोग किया जाता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत का उद्भव पौराणिक या मिथकीय अतीत से हुआ है। अगर हम ये मान भी लें कि किंवदंतियां सटीक तथ्य नहीं हैं पर हम यह भी जानते हैं कि इसका अर्थ यह नहीं है कि वे किसी अन्य स्तर पर वास्तविक नहीं हो सकती हैं। उनकी वास्तविकता आंतरिक अनुभवों में प्रकट हो सकती है। संगीतकार जिन्हें भारतीय सांस्कृतिक धरोहर उससे संबंधित प्रतीकों और मिथकों की गहन समझ है अमूर्त, संवेदी, प्रेरक और आध्यात्मिक लोक का अनुभव करने के लिए अक्सर संगीत के विन्यास और रचना के शब्दों का उपयोग करते हैं।

नादोपासना - आद्य ध्वनि का आह्वान

शास्त्रीय संगीत के एक सच्चे साधक के लिए संगीत साधना नादोपासना हुआ करती थी - यानी आद्य ध्वनि का आह्वान। इन साधकों के लिए संगीत परम सत्य की प्राप्ति की एक आंतरिक यात्रा बन जाता है। शास्त्रीय संगीत के ऐसे साधक दर्शकों की रुचि के अनुसार गाने या बजाने का प्रयास नहीं करते हैं। जब वे सार्वजनिक प्रदर्शन दे रहे होते हैं, तब भी उनकी चेतना उनके भीतर किसी उच्च स्तर पर चली जाती है और फिर दर्शकगण स्वत: उस स्तर तक उठ जाते हैं। इस प्रकार, कलाकार के साथ-साथ दर्शकों को भी शास्त्रीय संगीत की पहुंच का वास्तविक अनुभव होता है।

यहां तक कि संगीत के इन साधकों के लिए संगीत प्रदर्शन के समय राग का चयन और संयोजन भी उस क्षण के अंतर्ज्ञान और प्रेरणा का परिणाम है। मसलन यह कहा जाता है कि दिवंगत ध्रुपद

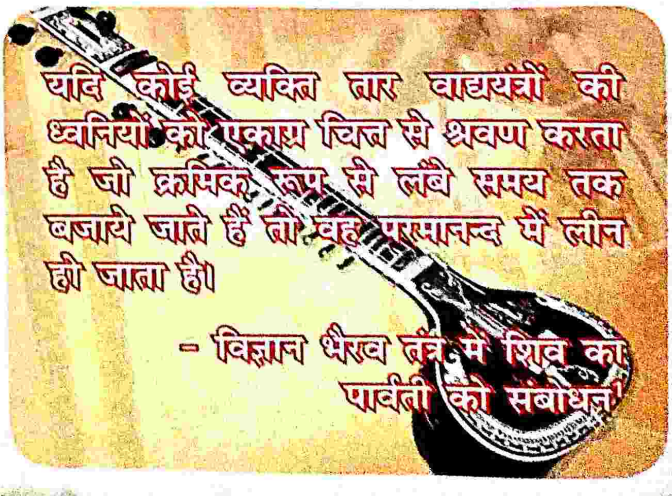

लेखक स्पिक मैके के पूर्व राष्ट्रीय सचिव और अमृता विश्व विद्यापीठम बेंगलुरु में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं। ईमेल: praanshu@gmail.com

भारत रत्न कमरूद्दीन बिस्मिल्लाह खान

पंडित हरिप्रसाद चौरसिया

वादक उस्ताद नसीर अमीनुद्दीन डागर से एक बार एक गायन प्रस्तुति से पहले पूछा गया था कि वह कौन-सा राग गाने वाले हैं। ऐसा माना जाता है कि उनका जवाब था, "मुझे अभी तक नहीं पता है। मैं ग्रीन रूम में तानपुरे की आवाज़ का इंतज़ार करूंगा और तब मुझे मालूम होगा कि मुझे क्या गाना चाहिए।" यह अजीब लग सकता है लेकिन यह भारतीय शास्त्रीय संगीत के कई महान फनकारों के लिए एक वास्तविकता है।

इस प्रकार, संगीत के ऐसे साधकों के लिए उनकी कला शैली मात्र मनोरंजन प्रदान करने का साधन ही नहीं है बल्कि अपने श्रोताओं को सौंदर्यबोध का आस्वादन करने के गहन अनुभवों को प्रदान करना है।

गुरु-शिष्य और घराना परंपरा

गुरु-शिष्य परंपरा एक और अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता है जो भारत की सभी शास्त्रीय संगीत परंपराओं का अभिन्न भाग है। सदियों से, गुरु-शिष्य-परंपरा ने महान संगीतज्ञों की संगीत शैलियों की पेचीदगियों और गहन अनुभवों को आगे बढ़ाने में समर्थ किया है। एक महान गुरु हजारों वर्षों के ज्ञान का समामेलन है। इसके लिए शिष्यों की ओर से बहुत अधिक त्याग की आवश्यकता होती है, क्योंकि उनमे गुरु द्वारा सौंपी गयी धरोहर को ग्रहण करने के लिए अपार शक्ति और विश्वास होना चाहिए। यह अनिवार्य रूप से आदर और बिना शर्त अनुसरण का एक पवित्र रिश्ता होता है जिसने भारतीय संस्कृति में ज्ञानोपार्जन की हर शाखा को प्रतिष्ठित किया है।

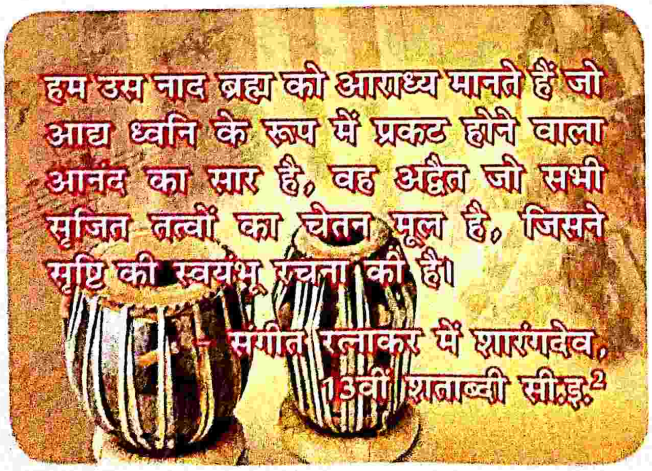

उत्तर भारतीय या हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के संगीत घरानों ने भी अनूठी शैली प्रस्तुत करके अपने संगीत की विविधता में योगदान दिया है। संगीत की विशिष्ट शैलियों के इन घरानों ने वंशानुक्रम के माध्यम से रागों और संगीत दर्शन के अनूठे सिद्धांतों को संरक्षित और सारभूत किया है और इस प्रकार गुरु-शिष्य या पारिवारिक परंपरा के माध्यम से एक विकसित शैलीगत स्वरूप विरासत में सौंपा है। एक घराना भी वृहद् संगीतविद्या की विचारधारा दर्शा सकता है।

भारतीय संगीत की विभिन्न शैलियों की उत्पत्ति और ऐतिहासिक विकास

भारतीय संगीत की उत्पत्ति वैदिक स्तोत्रों और मंत्रों के उच्चारण में देखी जा सकती है। छांदोग्य उपनिषद् में गान (संगीत विधाएं) की सात शैलियों का उल्लेख है जिसमें वैदिक मंत्रों के स्वर के महत्व पर प्रकाश डाला गया है जिनका उच्चारण पूर्ण शुद्धता के साथ किया जाना चाहिए जो वैदिक मंत्र की प्रभावोत्पादकता के लिए एक महत्वपूर्ण है। इस उपनिषद् में आगे कहा गया है सभी स्वरों की आत्मा मुख्य वैदिक देव इंद्र हैं।[4]

वैदिक युग के बाद भारतीय कला विधाओं का सबसे प्राचीन संकलन, नाट्य शास्त्र है। इसे 200 बी.सी.इ. (कॉमन एरा पूर्व) से 200 सी.इ. (कॉमन एरा) के बीच संकलित किया गया था। ऐसा माना जाता है कि ऋषि भरत मुनि ने ऋग से वाणी, साम से संगीत, यजुर से अभिनय और अथर्ववेद से भाव को एकीकृत करके नाट्य की सृजना की। यह संगीत के वैदिक विज्ञान गंधर्व वेद की उत्पत्ति थी।

10 वीं शताब्दी सी.इ. के आस-पास मौजूद वेदों के अनुष्ठानिक जाप और प्रदर्शन कलाओं की गायन शैली से जुड़ी एक अन्य विशेषता पर कश्मीर के आचार्य अभिनवगुप्त ने गौर किया। उन्होंने कर्मकाण्डी गंधर्व और कलुषित ध्रुव-गण के अंतर का उल्लेख किया है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत के रागों के आरंभिक संदर्भों में से एक बौद्ध ग्रन्थ सूत्रों में पाया जा सकता है। तिब्बत से प्राप्त 10 वीं शताब्दी की चार्यगीति (प्रदर्शन गीत) की पांडुलिपि में जो 8 वीं शताब्दी सी.इ. के महासिद्ध सराहपा से संबद्ध है शास्त्रीय संगीत रागों जैसे भैरवी और गुर्जरी का उल्लेख मिलता है।[5] भारत और नेपाल के हिमालयी क्षेत्र के विभिन्न भागों में जहां महायान - वज्रयान बौद्ध धर्म प्रचलित है, चार्यगीति और नृत्य के सूत्रों का पाठ और प्रदर्शन आज भी चलन में है।

भारत के दक्षिणी भाग में एक लोकप्रिय प्रदर्शन शैली प्रबंध गान 11वीं से 16वीं शताब्दी के बीच विद्यमान थी। प्रबंध शब्द एक भली-भांति परिभाषित रचना को दर्शाता है। यह कहा जाता है कि प्रत्येक प्रबंध विस्तृत था और इसमें पारंगता हासिल करने में कई वर्षों का समय लगता था। यह प्रबन्ध परंपरा थी जिसने धीरे-धीरे दो संबद्ध फिर भी विशिष्ट शास्त्रीय संगीत की शैलियों के आविर्भाव को प्रभावित किया जिसे अब हिंदुस्तानी और कर्नाटक संगीत के रूप में जाना जाता है।

भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र में असम के सांस्कृतिक और धार्मिक इतिहास में 15 वीं -16 वीं शताब्दी में वैष्णव परंपरा की एक महान विभूति संत-विद्वान, शंकरदेव के प्रयासों से सांस्कृतिक सुधार हुआ और अतीत की परंपराओं को पुनर्जीवित किया गया। उन्होंने संगीत (बोरगीत), और नृत्य (सत्रिया) के नए रूप ईजाद किए। इन शास्त्रीय संगीत और नृत्य परंपराओं ने पूर्वोत्तर क्षेत्र के साथ भारतीय सांस्कृतिक संपर्क को और भी मजबूत करने में मदद की। इसके अलावा, पूर्वोत्तर की वैष्णव परंपरा ने बंगाली भक्ति संगीत के प्रदर्शन को और अधिक परिष्कृत किया।

सिख धर्म शायद एकमात्र ऐसा धर्म है जो संगीत को अपनी मुख्य पूजा पद्धति के रूप में उपयोग करता है, जहां संगीत प्रार्थना और भेंट है। विभिन्न शैलियों का उपयोग करते हुए, सिख कीर्तन भारतीय शास्त्रीय संगीत रागों में रचे गए हैं - इसमें विधिवत उपासना के प्रत्यक्ष साधन के रूप में संगीत का उपयोग होता है। गुरु ग्रंथ साहिब में, शास्त्रीय संगीत के इकतीस रागों की स्वरलिपि को अपेक्षित विवरणों के साथ दिया गया है।

इस्लामी संदर्भ में, एक लोकप्रिय धारणा है कि इस्लाम में आमतौर पर संगीत की मनाही है। इस्लाम में संगीत का निषेध तब लागू होता है जब यह अल्लाह की पारलौकिक यथार्थता का चिंतन करने में एक बाधा के रूप में सांसारिक प्रलोभन से जुड़ा होता है। हालांकि, संगीत को भारत के सूफी संतों द्वारा हमेशा अलौकिक परम शक्ति के साथ जुड़ने के प्रयास में अपनी चेतना को तन्मयावस्था में ले जाने के लिए दरवेश नृत्यों और कव्वाली गायन में शामिल किया जाता है और सम्मानित किया जाता है।

इस प्रकार, भारतीय शास्त्रीय संगीत ने भारत की समग्र संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है। इसके अलावा, भारतीय शास्त्रीय संगीत के संबंध में, यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि

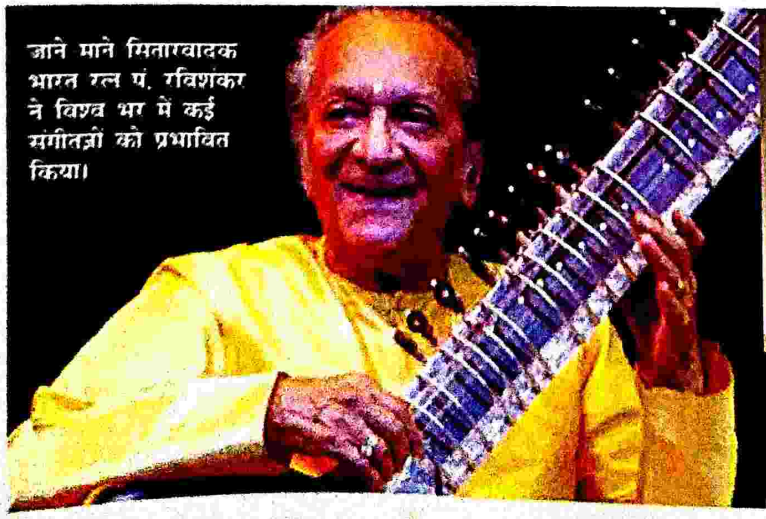

जाने माने सितारवादक भारत रत्न पं. रविशंकर ने विश्व भर में कई संगीतज्ञों को प्रभावित किया।

भारत रत्न मदुरै शन्मुखावादिवु सुब्बालक्ष्मी कर्नाटक संगीत की महान गायिका

'शास्त्रीय' शब्द केवल यह सुझाता है कि शास्त्र की मौलिक परंपरा के अनुसार इसका आधार नियत परिपाटी का अनुसरण करता है। इस संगीत का भारतीय नाम शास्त्रीय संगीत है। इसे कभी-कभी राग संगीत के रूप में भी जाना जाता है क्योंकि यह राग है जो इस कला विधा की संरचना के केंद्र में है। इस प्रकार, 'शास्त्रीय' शब्द किसी पुरानी शैली या समय-अवधि को नहीं दर्शाता है जैसा कि पश्चिमी संगीत परंपरा में मौजूद है।

बहुवाद और अनन्यवाद का समावेश

यद्यपि भारतीय शास्त्रीय संगीत के विभिन्न वर्गों में एकीकरण के लिए आध्यात्मिकता कारक रही है, भारत एक समृद्ध और विविध संगीत विरासत से संपन्न है। इसकी संगीत विविधता भी इसके भूगोल और संस्कृतियों से नमूदार हैं। संगीत परंपरा के अपने विभिन्न रूपों के बीच इस विविधता के पीछे एक और कारण इसकी विशिष्ट जातीयता है। प्राचीन ग्रन्थ नाट्यशास्त्र ने इस विशिष्टता को अभिलेखित किया और उनका भौगोलिक या जातीय नामकरण करते हुए उन्हें वर्गीकृत किया। नाट्य शास्त्र में उत्तर भारत की संगीत शैली को 'उदिच्य' के रूप में उल्लिखित किया गया है जबकि दक्कन क्षेत्र में प्रचलित शैलियों को आंध्रिय कहा गया है। इस प्रकार भारतीय शास्त्रीय संगीत की विविधता का सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ मौजूद है।

खयाल संगीत का उद्भव

हिन्दुस्तानी संगीत की खयाल शैली का विकास 17 वीं शताब्दी सी.इ. के लगभग हुआ माना जाता है। ऐतिहासिक रूप से इसकी लोकप्रियता मुगल साम्राज्य के पतन और हिंदी साहित्य में रीति (रूमानी) कविता के उदय के साथ परवान चढ़ी। खयाल शैली जो कि इसके पूर्ववर्ती ध्रुपद नामक शास्त्रीय संगीत की शाखा थी उन गणिकाओं के लिए विशेष रूप से उपयुक्त थी जो अपने मेहमानों के मनोरंजन के लिए शास्त्रीय संगीत और नृत्य को प्रदर्शित करने के साथ-साथ संरक्षित करती थी लेकिन दुनियावी रूप में। यह वो समय था जब वे ध्रुपद संगीत प्रतिरूप जिनकी उत्पत्ति अधिकांशत: पवित्र मूल से हुई थी अपनी शैली, ताल, क्रिया रूप और विचारधारा में आमूल-चूल परिवर्तनों के कारण रूपांतरित हो गए होंगे।

खयाल कलाकारों में से अधिकांश मुस्लिम थे और इसकी तकनीकी शब्दावली का अधिकांश हिस्सा उर्दू से लिया गया है। यद्यपि इसे शास्त्रीय संगीत परंपरा का एक विकसित और व्यवस्थित रूप माना जाता है, फिर भी खयाल की अधिकांश शब्दावली जन भाषा से उत्पन्न है।

रागमाला: दृश्य कला और शास्त्रीय संगीत

दृश्य कला और कविता के साथ शास्त्रीय संगीत के समामेलन का एक उत्कृष्ट उदाहरण मध्यकालीन भारत की चित्रकला शृंखला रागमाला (संगीत विधाओं की माला) की उत्पत्ति थी। यह भारतीय लघु चित्रकला की एक शैली थी जिसमें विभिन्न भारतीय संगीत

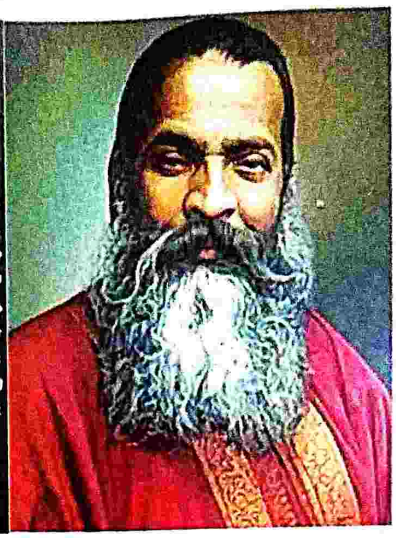

हिंदुस्तानी संगीतकार पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर ने ही रघुपति राघव राजा राम का मूल गीत गाया था। उन्होंने 1901 में गंधर्व महाविद्यालय की स्थापना की थी।

उस्ताद रहीमुद्दीन खां डागर

विधाओं या रागों का चित्रण किया गया था। हालांकि इन चित्रों के दृश्यों में कुछ मनमानापन मौजूद है क्योंकि उनके चित्रण और रंगों के संयोजन संगीत के प्रामाणिक ग्रंथों में उल्लेखित राग के निर्धारित रंग के साथ मेल नहीं खाते हैं फिर भी उन्हें भारतीय शास्त्रीय संगीत की आसक्तिपूर्ण कल्पना और रचनात्मकता का साक्ष्य माना जाता है।

स्वर की शुचिता : भारतीय शास्त्रीय संगीत के एकीकरण का कारण

भारतीय शास्त्रीय संगीत के सभी रूपों के एकीकरण का एक और कारक स्वर की शुचिता को महत्त्व देना है। संगीत रत्नाकर ग्रन्थ स्वर का व्युत्पत्तिपरक अर्थ बताता है- *स्वयमेवरंजतिइतिस्वरः* - 'स्व', यानि स्वयं और 'रा' का अर्थ है, जो 'चमकता' है। इसलिए, स्वर के माध्यम से आत्म का प्रकाशित होना अपेक्षित है। ध्रुपद के महान फनकार, उस्ताद रहीमुद्दीन खां डागर ने सुविदित रूप से कहा था कि 'स्वर उसी का अच्छा जिसका ईमान सच्चा।'

स्वर की शुचिता पर एक सुन्दर कहानी है। यह हमारे समय के महानतम संगीतज्ञों में से एक पंडित विष्णु दिगंबर पलुस्कर ने सुनाई थी।[1]

एक बार, इंदौर के समीप जंगल में विचरते हुए पंडित विष्णु दिगंबर पलुस्कर ने टूटे फूटे मंदिर में एक संन्यासी को गाते हुए सुना। वह आवाज के आवेग से मंत्रमुग्ध हो गए; उन्होंने यह चमत्कार भी देखा कि खंडित मंदिर प्रज्ज्वलित होकर जगमगा रहा था। इस अनुभव से वह बेहद विचलित हो गए और उन्होंने संन्यासी से पूछा कि क्या वह गायन के इस प्रभावशाली शैली को सीख सकते हैं और क्या संन्यासी उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार करेंगे। संन्यासी की अनिच्छा को देखते हुए, पंडितजी ने कहा कि वह सब कुछ छोड़ने के लिए तैयार हैं, और यहां तक कि संन्यासी भी बन सकते हैं, यदि वह उन्हें अपनी गायन में ऐसी शक्ति प्राप्त करना सिखाएंगे। 'नहीं', संन्यासी ने उत्तर दिया, "जब तुम्हारे स्वर में यह गुण आएगा तब तक तुम संन्यासी बन चुके होगे।" ऐसा नहीं है कि संन्यासी बनने के बाद तुम्हें यह अपार बल और शक्ति प्राप्त

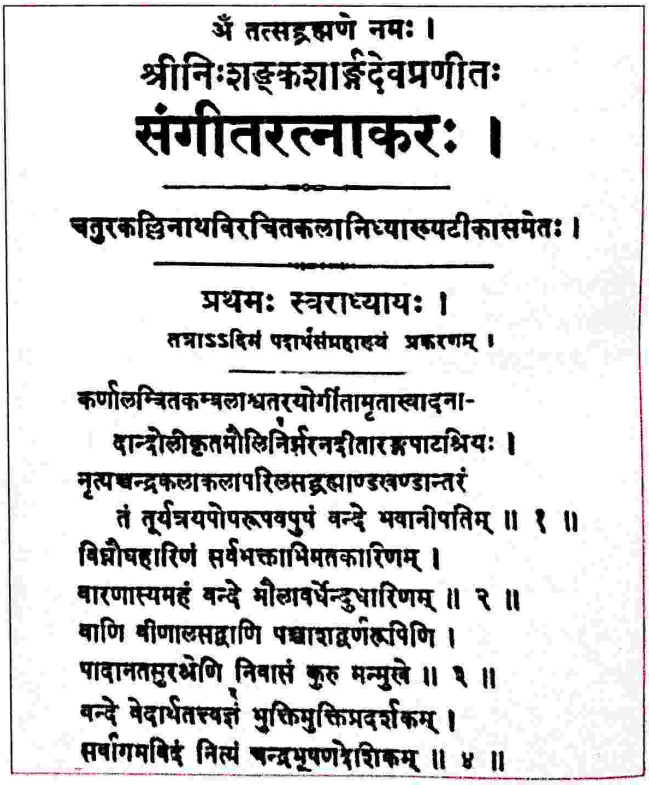
ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।
श्रीनिःशङ्कशार्ङ्गदेवप्रणीतः
संगीतरत्नाकरः ।
चतुरकल्लिनाथविरचितकलानिध्याख्यटीकासमेतः ।
प्रथमः स्वराध्यायः ।
तत्राऽऽदिमं पदार्थसंग्रहाख्यं प्रकरणम् ।
कर्णालम्बितकम्बलाश्वतरयोर्गीतामृतास्वादना-
दान्दोलीकृतमौलिनिर्झरनदीतारङ्गपाटश्रियः ।
नृत्यच्चन्द्रकलाकलापरिलसद्ब्रह्माण्डखण्डान्तरं
तं तूर्यत्रयपोपरूपवपुषं वन्दे भवानीपतिम् ॥ १ ॥
विघ्नौघहारिणं सर्वभक्ताभिमतकारिणम् ।
वारणास्यमहं वन्दे मौलावर्धेन्दुधारिणम् ॥ २ ॥
वाणि वीणालसद्वाणि पञ्चाशद्वर्णरूपिणि ।
पादानतसुरश्रेणि निवासं कुरु मन्मुखे ॥ ३ ॥
वन्दे वेदार्थतत्त्वज्ञं भुक्तिमुक्तिप्रदर्शकम् ।
सर्वागमविदं नित्यं चन्द्रभूषणदेशिकम् ॥ ४ ॥

13वीं शताब्दी में पं. शारंगदेव द्वारा रचित संस्कृत ग्रंथ संगीत रत्नाकर की पांडुलिपि। इसी के आधार पर उत्तर तथा दक्षिण भारतीय संगीत की पद्धति तैयार हुई।

विभिन्न संगीत यंत्रों का उपयोग करते चरित्र

होगी। आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करने से व्यक्ति अंतर्मुखी होता है और संन्यासी बन जाता है। यह स्वर के लिए निर्धारित खोज है।

जैसे ही स्वर हमारे स्वभाव में प्रवेश करता है हमारा आत्म हमारे संगीत के माध्यम से प्रकाशित हो जाता है। यह संगीत साधकों का शुद्ध स्वर है जो संगीत को महत्वपूर्ण बनाता है।

सरोद वादक बाबा अल्लाउद्दीन खान (8 अक्टूबर 1862-6 सितंबर 1972) अन्य साज भी बखूबी बजाते थे। संगीतकार के अलावा वे बीसवीं सदी में भारतीय शास्त्रीय संगीत के जाने-माने प्राध्यापक (उस्ताद) थे।

निष्कर्ष

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि विशिष्ट सांस्कृतिक सरोकारों और ऐतिहासिक परंपराओं ने भारतीय शास्त्रीय संगीत की ज्ञानवादी विविधता के उद्भव में योगदान दिया है। इसके परिणामस्वरूप विशिष्ट विश्व-दर्शनों का विकास हुआ है जो भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्रस्तुतीकरण के पीछे सांस्कृतिक रूपरेखा और मान्यताओं को रेखांकित करते हैं हालांकि इससे यह भी प्रकट होता है कि आध्यात्मिकता इस संगीत का मूल सिद्धांत बना हुआ है। ■

संदर्भ

1. धारणा 18 पद 41 विज्ञान भैरव तंत्र के अनुसार तंत्रयादीवाद्यशब्देसुदीर्घेषु क्रमसंस्थित: / अनन्यासित: प्रतयन्ते पराव्योमावापुर भवेत्। प्रसिद्ध संगीतज्ञ, ठाकुर जयदेव सिंह इस पद पर टिप्पणी करते हैं, "जब वाद्य संगीत की ध्वनि रुक जाती है, तब भी यह स्मृति में कंपन करता है। यदि योगी अपने मन को किसी और जगह भटकने की अनुमति नहीं देता है और संगीत की गूंज पर ध्यान केंद्रित करता है, तो वह सभी ध्वनि के स्रोत में अवशोषित हो जाएगा यथा परावक् और इस प्रकार भैरव के स्वरूप को प्राप्त होगा।" देखें, जयदेव सिंह। 2010. विज्ञानभैरव।
2. चैतन्यम सर्वभूतानाम विवर्तम जगदात्मा / नादब्रह्मातदानंदमअद्वितीयमउपस्महो, देखें, संगीत रत्नाकर, 1.3.1, पृ. 62.
3. फोनीम ध्वनि की एक इकाई है जो किसी भाषा में एक शब्द को दूसरे से अलग करती है।
4. छान्दोग्य उपनिषद 2.23.3-4 देखें, आंद्रे पेदो 1990, वाक्: द कंसेप्ट ऑफ वर्ड, पृ. 17.
5. राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वानों ने इस ग्रन्थ की रचना 8वीं शताब्दी सी.इ. में मानी है।
6. देखें आलाप: ए डिस्कवरी ऑफ इंडियन क्लासिकल म्यूजिक, पीपी. 34-35.

पूर्वोत्तर क्षेत्र: अनुपम आत्मीय संबंध

डॉ ताप्ती बरुआ कश्यप

"उनमें से सैंकड़ों पहाड़ों और घाटियों से होकर तीव्र गति के साथ सभी बाधाओं को तोड़ते हुए नीचे की ओर एक होने के लिए बढ़ती हैं" (महान ब्रह्मपुत्र में विलीन होने के लिए)।

– ज्योतिप्रसाद अगरवाला (1943) नें पूर्वोत्तर के प्रत्येक समुदाय को एक पर्वतीय धारा के समान माना

भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र का एक लंबा और गरिमामय इतिहास है। यहां मानव की मौजूदगी के चिह्न प्रारंभिक पाषाण युग या पुरापाषाण युग (40,000 से 35,000 वर्ष पूर्व) के दौरान देखे गए हैं। देश के अन्य क्षेत्रों के विपरीत, पूर्वोत्तर क्षेत्र विभिन्न मानव जातियों के लोगों का वास रहा है, नृविज्ञानियों ने यहां पुरा द्रविड़, यूरेशियन, ऑस्ट्रोलाइड, मंगोल, अल्पाइन या आर्मेनॉइड जातियों के अलावा, मेडिटेरेनियन, इंडो-आर्यन और ईरानो-स्कायथियन वंशों की प्रमुख रूप से मौजूदगी के अलावा निग्रिटो नस्ल के अवशेषों की भी उपस्थिति इंगित की है। अरुणाचल प्रदेश, असम और मणिपुर के विभिन्न स्थानों का विशेष रूप से उल्लेख इस देश की महान जन-श्रुतियों में प्रमुखता से मिलता है।

वर्तमान समय में इस मनोहर क्षेत्र में बसी 4.54 करोड़ आबादी (2011 की जनगणना के अनुसार) को विभिन्न मानव जातियों के वंशजों के एक के बाद एक आने वाले जन

रचनाकार गुवाहाटी में स्थित लेखिका और कवियित्री हैं। उनकी अब तक अंग्रेजी के साथ-साथ असमिया में भी दस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।
ईमेल: tapatibkashyap@gmail.com

समूहों ने इसे जातीय, भाषाई और सांस्कृतिक विविधता का सबसे विविधरूपी मोंताज बना दिया है। इस क्षेत्र के लोगों को जातीय दृष्टिकोण से तीन प्रमुख समूहों में विभाजित किया जा सकता है - पहाड़ी जनजातियां, मैदानी जनजातियां और मैदानी इलाकों के गैर-आदिवासी लोग।

इस क्षेत्र की 68 प्रतिशत से अधिक आबादी असम में बसी है। दूसरी ओर पूर्वोत्तर की जनसंख्या सबसे कम अरुणाचल प्रदेश में 43 प्रति वर्ग कि.मी. से लेकर असम में 398 प्रति वर्ग कि.मी. है जो 382 प्रति वर्ग कि.मी. की राष्ट्रीय औसत से अधिक है। असम को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में मुख्य रूप से पहाड़ी इलाके शामिल हैं और इनमें बड़ी संख्या में आदिवासी बसे हैं। असम में आदिवासिओं की आबादी कुल जनसंख्या का 12.4 प्रतिशत है तो मिजोरम में यह 94 प्रतिशत है। पूर्वोत्तर क्षेत्र में 160 से अधिक अनुसूचित जनजातियां और 400 से अधिक अन्य आदिवासी और उप-आदिवासी समुदाय और समूह हैं। इस क्षेत्र की 80 प्रतिशत से अधिक आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है।

जातीय रूप से अधिकांश जनजातियां इंडो-मंगोलोइड नस्लीय वंश से संबंधित हैं, और वृहत् चीन-तिब्बती भाषाई परिवार के विभिन्न वर्गों और उपवर्गों की भाषाएं बोलती हैं। असम की बोडो, रभा, डिमासा और कार्बी भाषाएं, मेघालय की गारो, त्रिपुरा की कोकबोरोक और अरुणाचल प्रदेश, नगालैंड, मिजोरम और मणिपुर की पहाड़ियों में बोली जाने वाली अधिकांश भाषाएं चीनी-तिब्बती भाषा परिवार की तिब्बती-बर्मी उप-शाखा से संबंधित हैं। दूसरी तरफ असमी नव इंडो-आर्यन परिवार से है, जबकि खासी मेघालय में बोली जाने वाली एक मोन-ख्मेर (ऑस्ट्रो-एशियाटिक) भाषा है। सिक्किम को छोड़कर, पूरे क्षेत्र में बोली जाने वाली अधिकांश भाषाएं और बोलियां, तिब्बती-बर्मी समूह से संबंधित हैं। नेपाली, भोटिया और लेपचा सिक्किम में बोली जाने वाली तीन प्रमुख भाषाएं हैं, जो अन्य पूर्वोत्तर राज्यों से जातीय रूप से भिन्न हैं।

धर्म की बात करें तो मेघालय, नगालैंड, मिजोरम और मणिपुर में आदिवासी समुदायों के एक बड़े भाग ने पिछले 200 वर्षों में

विविध परिदृश्य

शमन के गीत-अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश की विभिन्न जनजातियों में शमनवाद प्रचलित है। अरुणाचल प्रदेश में हर जनजाति में आनुष्ठानिक कर्मकाण्डों में माहिर लोग हैं जो धार्मिक संस्कारों को संपन्न करने और बलि चढ़ाने का काम करते हैं। लगभग सभी पूर्व लेखन में प्रयुक्त पुजारी या शमन शब्द (देशज) का उपयोग उनके लिए किया जाता है। तानी लोग जो अबो तानी से अपने वंश की उत्पत्ति मानते हैं उनका मत है कि शमनवाद उतना ही प्राचीन है जितना मानव जाति का आविर्भाव। अरुणाचल प्रदेश की विभिन्न जनजातियों में शमन को ज्यादातर एक भविष्यवक्ता, संचारक, मध्यस्थ, रोगहर्ता, कर्मकांडों में निपुण और धार्मिक रीतियों में प्रखर व्यक्ति माना जाता है परन्तु जादूगर और रहस्यवादी के रूप में नहीं। वह (पुरुष या स्त्री) मानव और आत्माओं के बीच मध्यस्थ है जो उनकी ओर से आत्माओं से संवाद स्थापित कर सकता है। तानी लोग आत्माओं के अस्तित्व में विश्वास करते हैं इसलिए उन्हें ऐसे निपुण व्यक्तियों यानि शमन की आवश्यकता होती है जिनके पास अनुभव हो और जिसकी संचारक के रूप में आत्मा लोक तक पहुंच हो। प्रत्येक कबीले के पास धार्मिक अनुष्ठानों में प्रवीण खास लोग होते हैं जो आत्माओं और दिव्यजनों के साथ संपर्क स्थापित करते हैं। वे आत्माओं से संपर्क करते हैं और मानव और आत्माओं के बीच संदेशों का आदान-प्रदान करते हैं। उनके पास आत्माओं को आशीर्वाद, सहायता और दुष्ट आत्माओं से सुरक्षा के लिए आह्वान करने की शक्ति है। उनके पास आत्मा लोक में प्रवेश करने और आत्माओं के साथ संवाद करने और उन वजहों से समझौता करने की क्षमता है जिसके कारण लोग बीमार हो जाते हैं। वे आत्माओं के साथ संवाद स्थापित करते हैं और कबीले के सदस्यों की समृद्धि और स्वास्थ्य के लिए आग्रह करते हैं। शमनों के पास किंवदंतियों, मिथकों, आनुष्ठानिक मंत्रोत्चारों आदि के रूप में पारंपरिक ज्ञान का भी अपार भंडार होता है। वे आनुष्ठानिक कर्मकांडों और उनके साथ जुड़े ज्ञान और पांडित्य में पारंगत होते हैं।

प्रकृति पूजा की अपनी पारंपरिक धर्म निष्ठा को त्याग कर ईसाई धर्म अपना लिया है। असम, त्रिपुरा और मणिपुर की इम्फाल घाटी में अधिकांश लोग हिंदू धर्म के विभिन्न रूपों का अनुसरण करते हैं, जिनमें से वैष्णववाद असम और मणिपुर में सबसे प्रमुख हैं। अरुणाचल प्रदेश में डोन्यी-पोलो और मेघालय में नियं-त्रे जैसे प्रमुख देशज धर्म हैं। अरुणाचल प्रदेश में बौद्ध धर्म की भी महत्वपूर्ण उपस्थिति है; मोनपा, शेरदुकपेन, मेम्बा और खंबा जनजातियां महायान स्कूल का अनुसरण करती हैं, जबकि खामटी, सिंगफो और तान्गसा जनजाति थेरवाद स्कूल का अनुसरण करती हैं।

संपन्न संस्कृति वाले पूर्वोत्तर क्षेत्र के अधिकांश समुदायों में मौखिक साहित्य, लोक गीत, संगीत और नृत्य रूपों की समृद्ध परंपरा है। ये आम तौर पर विभिन्न कृषि कार्यप्रणालियों से संबंधित हैं जिसमें *झूम* या स्लेश-एंड-बर्न कृषि पद्धति की मौजूदगी लंबे समय तक थी। इसीलिए अधिकांश त्योहार झूम कृषि के लिए जंगलों को साफ करने, मिट्टी को जोतने, बीज बोने और कटाई करने से जुड़े थे। चूंकि परंपरागत रूप से कृषि एक सामूहिक सामुदायिक गतिविधि रही है, इसलिए त्योहारों को सामुदायिक स्तर पर भी मनाया जाता है।

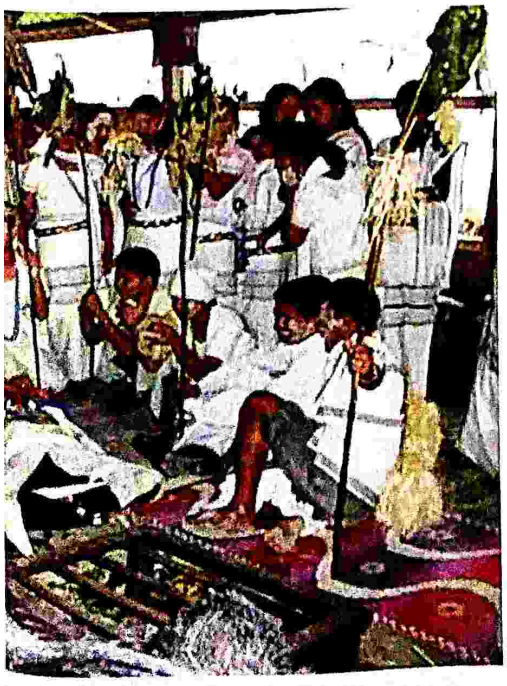

असम में सबसे लोकप्रिय त्योहार *बिहू* का मूल प्राचीन काल की कृषि प्रथाओं में हैं जैसे *भोगाली बिहू* फसल कटाई का उत्सव है तो *रोंगाली बिहू* नए वर्ष का उत्सव है। असम में *कोंगाली बिहू* भी मनाया जाता है जिसमें अच्छी फसल के लिए विधिपूर्ण प्रार्थना शामिल है। बोडो अपने नए साल के त्योहार को *बैशागु* कहते हैं तो डिमासा इसे *बुशु* कहते हैं, कारबी इसे *रोंगकेर* कहते हैं, मिशिंग इसे आली-आई-लिगांग कहते हैं, और रभा इसे बाइखो कहते हैं।

मेघालय में, खासी लोग *शाद सुक माइनसिएम* का जश्न मनाते हैं, जयन्तिया *बेहदियेनखाम* और *गारो वड्गाला* मनाते हैं। दूसरी ओर मिज़ोरम में सभी तीन त्योहार- *चपचर कुट, मिम कुट* और *पवल कुट-कृषि* से संबंधित हैं, जिनके दौरान मिज़ो लोग अद्भुत बांस नृत्य चेरव करते हैं। दूसरी ओर, अरुणाचल प्रदेश में, अदि समुदाय *सोलांग* मनाते हैं, *अपातानी द्री* मनाते हैं, *निशिंग न्योकुम* मनाते हैं, गालो *मोपिन*

विविध परिदृश्य

सोवा-रिग्पा

(रोग निवारण का ज्ञान)

सोवा रिग्पा शब्द भोटी भाषा से लिया गया है जिसका अर्थ है 'रोग निवारण का ज्ञान'। यह एक प्राचीन भारतीय चिकित्सा प्रणाली है जिसे भगवान बुद्ध ने परिकल्पित किया और भारत में प्रचारित किया और बाद में यह संपूर्ण हिमालय पार क्षेत्र में समृद्ध किया गया। सोवा रिग्पा को सदियों से विभिन्न पर्यावरणीय और सांस्कृतिक परिवेशों में विकसित और आत्मसात किया गया है। (सोवारिग्पा ने युगों से खुद को सामाजिक-सांस्कृतिक वंशपरंपरा में ढाला है), जहां हर गांव में जन स्वास्थ्य की देखभाल के लिए एक आमची परिवार होता था। आज, सोवा रिग्पा को भारत, भूटान, मंगोलिया और तिब्बत की सरकारों द्वारा एक पारंपरिक चिकित्सा प्रणाली के रूप में मान्यता प्राप्त है। मूल चिकित्सा ग्रन्थ 'ग्युद जी' (चतुश्तंत्र -संस्कृत भाषा में सोवारिग्पा के मौलिक सिद्धांतों का एक मूलग्रंथ) के पुरोगामी भगवान बुद्ध थे, 8वीं-12वीं शताब्दी में इसका भोटी भाषा में अनुवाद किया गया और हिमालय पार क्षेत्र के अनेक विद्वानों और युथोक योंतन गोमबो द्वारा सामाजिक-जलवायु परिस्थितियों के अनुसार संशोधित किया गया। सोवा रिग्पा के मूलभूत सिद्धांत जुंग-वा-न्गा (पंचमभुत), नेस्पा-सुम (त्रिदोष), लस-संग-दुन (सप्तधातु) आदि पर आधारित हैं। सोवा-रिग्पा के अनुसार स्वास्थ्य त्रिदोषों के संतुलन और पांच ब्रह्माण्डीय ऊर्जाओं (पंचमहाभूत), शरीर के भीतर संतुलन, वातावरण और ब्रह्मांड के साथ संतुलन का एक समीकरण है। किसी व्यक्ति का नाड़ी परीक्षण और ज्योतिषीय मूल्यांकन/विश्लेषण सोवा-रिग्पा के अनूठे नैदानिक साधन हैं। ऐसे प्राकृतिक संसाधनों को दवा के स्रोतों के रूप में उपयोग किया जाता है जो सुरक्षित, प्रभावी और समय की कसौटी पर खरे उतरे हैं।

मनाते हैं और मोनपा लोसार मनाते हैं और ये सभी कृषि से संबंधित हैं। नगालैंड जनजाति के कुछ त्योहार हैं- *सेकेरनेई* (अंगामी), *एओलिंग मोन्यू* (कोन्याक), *मोअत्सु* (आव), *तुलुनी* (सेमा), *तोखू इमोंग* (लोथा) और *एमंगमोंग* (संगमा)।

मणिपुर में *चेइराओबा* मणिपुरी नव वर्ष का त्योहार है तो *लाई-हरोबा* त्योहार को *उमंगलाई* नामक वन देवता को प्रसन्न करने के लिए मनाया जाता है। *याओसांग* सप्ताह भर चलने वाला अद्भुत होली उत्सव है। रथ यात्रा जिसे *कांग चिंगबा* भी कहा जाता है नौ दिवसीय रथ त्योहार है जो भगवान जगन्नाथ को समर्पित है। दूसरी ओर मणिपुर में आदिवासी समुदायों के बीच प्रमुख त्योहारों में कूकी-चिन समूह के *चवांग-कुट*, कबुई के *गंग-नगाई*, और तंगखुल के चुम्फा और *लुइ-नगई-नी* शामिल हैं।

दूसरी ओर पूर्वोत्तर के नृत्य रूपों में से दो- मणिपुर का मणिपुरी और असम का

सत्रिया को देश के 'शास्त्रीय नृत्य शैलियों' का गौरव प्राप्त है। 15 वीं शताब्दी ईस्वी में प्रसिद्ध असमिया संत-सुधारक शंकरदेव द्वारा आरम्भ किया गया सत्रिया नृत्य का संचालन *हस्त-मुद्राओं*, पद संचालन, आहर्यो, संगीत आदि के विशुद्ध रूप से निर्धारित सिद्धांतों द्वारा किया जाता है। *सत्रिया* नृत्य मुख्य रूप दुनिया के सबसे बड़े बसे हुए नदी-द्वीप *माजुली* में स्थित अनेक सत्रों या वैष्णव मठों द्वारा संरक्षित और पोषित है। मणिपुर की प्राचीन नृत्य परंपराओं से 15 वीं शताब्दी में विकसित मणिपुरी नृत्य के व्यापक प्रदर्शन प्रकार हैं जिनमें सबसे लोकप्रिय रूप हैं *रास, संकीर्तन* और *थांग-ता*।

पूर्वोत्तर क्षेत्र की सांस्कृतिक विरासत और विविधता पर चर्चा करते हुए यहां रहने वाले समुदायों की समृद्ध हथकरघा विरासत का उल्लेख भी करना चाहिए। प्रत्येक समुदाय की महिलाएं निपुण बुनकर हैं, जबकि पुरुषों में बांस और बेंत का काम करने का अद्भुत हुनर है। प्राचीन काल से इस क्षेत्र में रहने वाले हर समुदाय में हाथ से बुनाई की एक परंपरा रही है। वास्तव में बुनाई विभिन्न समुदायों की सामाजिक-सांस्कृतिक परंपरा का एक हिस्सा है चाहे वह अरुणाचल प्रदेश में पूर्वी हिमालय के ऊंचे इलाकों हों या दक्षिण में नीचे मिज़ो पहाड़ियों में जो अराकान योमा पर्वत प्रणाली का हिस्सा है जिसके एक तरफ म्यांमा के साथ और दूसरी तरफ बांग्लादेश से सीमा लगती है। अपने ढंग की अनूठी प्रत्येक जनजाति या समुदाय में बेजोड़ शिल्प कौशल की समृद्ध विरासत मौजूद है। हथकरघा बुनाई का पारंपरिक कौशल इस क्षेत्र की महिलाओं की सामाजिक स्थिति का ही प्रतीक नहीं है बल्कि विभिन्न समुदायों के सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन का भी अविभाज्य हिस्सा है।

असम जहां देश में सबसे अधिक हथकरघे हैं गैर-आदिवासी समुदाय घरेलू स्तर

विविध परिदृश्य

रोंघखली - मेघालय

रोंघखली या टाइगर फेस्टिवल 'मेघालय के वार-जयंतिया क्षेत्र में नोंगतालंग गांव के लोगों द्वारा मनाया जाने वाला एक धार्मिक त्योहार है। वार-जयंतिया लोग बांग्लादेश की सीमा से लगे पश्चिमी जयंतिया पहाड़ियों के ढलान पर रहते हैं। खासी की अन्य सभी उप-जनजातियों की तरह, वार-जयंतिया का भी मानना है कि वे आसमान से एक सुनहरी सीढ़ी के माध्यम से आकाश से इस धरती पर आए थे, जो कभी खासी पहाड़ियों के उत्तरी भाग में सोहपेटबेंग पर्वत शीर्ष पर स्थित था। रोंग का अर्थ है त्योहार और खली का अर्थ स्थानीय बोली में बाघ से है, इसलिए रोंगखली का अर्थ है टाइगर फेस्टिवल। परंपरा यह है कि जब भी गांव का कोई व्यक्ति वाघ या उसकी प्रजाति के पशु को पकड़ता है तो अनुष्ठान करने होते हैं। नोंगतालंग के लोग दो देवी-देवताओं की पूजा करते हैं; का पिरतुह और का कापोंग। तब गांव प्रमुख द्वारा दोरबार को बुलाया जाता है और महोत्सव के लिए एक तारीख तय की जाती है। यह त्योहार मुख्य रूप से जनवरी से मार्च के महीने में होता है, मुख्यतः शुष्क महीनों में।

विविध परिदृश्य

चोकरी नगा लोक गीत - नगालैंड

चोकरी समुदाय चकेसांग (नगा) जनजाति के तहत एक उप समुदाय है। समूची चकेसांग जनजाति का फेक जिले के चेथबा शहर में स्थित चकेसांग सांस्कृतिक अनुसंधान केंद्र है। वे लोक गीत संस्कृति को अपनी गौरवपूर्ण विरासत के रूप में संजोते हैं, जो जीवन-कार्यों, उत्सवों, नृत्यों, लोक संचार, युद्धघोष, एकल, युगल, तिकड़ी गायन और ऐसी कई संभावनाओं से बनती है। साहित्यिक लिपि के अभाव में और मौखिक माध्यम होने के कारण लोक गायक चोकरी नगा लोक गीतों का गायन स्मृति के आधार पर करते हैं।

पर थ्रो-शटल लूम का उपयोग करते हैं जबकि फ्लाई-शटल का उपयोग केवल गुवाहाटी के पास प्रसिद्ध रेशम गांव सुआलकुची के व्यावसायिक करघों में किया जाता है। असम का पारंपरिक हथकरघा उद्योग मूल रूप से रेशम-उन्मुख रहा है, क्योंकि यह राज्य अनूठे *मूगा* या सुनहरे रेशम के लिए प्रसिद्ध है जो प्रकृतिकृत रेशम की विभिन्न प्रकारों में से एक है और भौगोलिक रूप से असम की देन है। अपने बेहद टिकाऊपन के लिए जाना जाने वाला *मूगा* रेशम में झिलमिलाती चमकदार रचना के साथ एक नैसर्गिक पीलापन लिए सुनहरा रंग है। असम का हथकरघा कार्य ने जो एक पारंपरिक कला के रूप में महिलाओं में अत्यंत कौशलपूर्ण शौक के रूप में प्रचलित है सौ साल पहले महात्मा गांधी का मन मोह लिया था। 1921 में असम की अपनी पहली यात्रा के दौरान वे करघे पर काम करने वाली महिलाओं के एक समूह से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने लिखा: "असम की प्रत्येक महिला एक जन्मजात बुनकर है; और वह अपने करघे पर परी कथाएं बुनती है।"

असम में आमतौर पर *मेखला-चादोर* बुना जाता है जबकि उत्सव-संबंधी परिधानों में *रीहा* भी शामिल है, और ये सुनहरे *मूगा* का हो सकता है। इसके अलावा *पाट* भी बुना जाता जो शहतूत रेशम से बना होता है और शानदार सफेद या श्वेताभ रंग का होता है। असम की बोडो आदिवासी महिलाएं *डोखोना* और *ज्वंग्रा* बुनती हैं जो महिलाओं की पारंपरिक पोशाक है जबकि *अरोनई* एक सुंदर स्कार्फ है जो आमतौर पर पुरुषों द्वारा पहना जाता है। इसी तरह मिशिंग आदिवासियों

जातीय रूप से अधिकांश जनजातियां इंडो-मंगोलोइड नस्लीय वंश से संबंधित हैं, और बृहत् चीन-तिब्बती भाषाई परिवार के विभिन्न वर्गों और उपवर्गों की भाषाएं बोलती हैं। असम की बोडो, रभा, डिमासा और कार्बी भाषाएं, मेघालय की गारो, त्रिपुरा की कोकबोरोक, और अरुणाचल प्रदेश, नगालैंड, मिजोरम और मणिपुर की पहाड़ियों में बोली जाने वाली अधिकांश भाषाएं चीनी-तिब्बती भाषा परिवार की तिब्बती-बर्मी उप-शाखा से संबंधित हैं। दूसरी तरफ असमी नव इंडो-आर्यन परिवार से है, जबकि खासी मेघालय में बोली जाने वाली एक मोन-ख्मेर (ऑस्ट्रो-एशियाटिक) भाषा है।

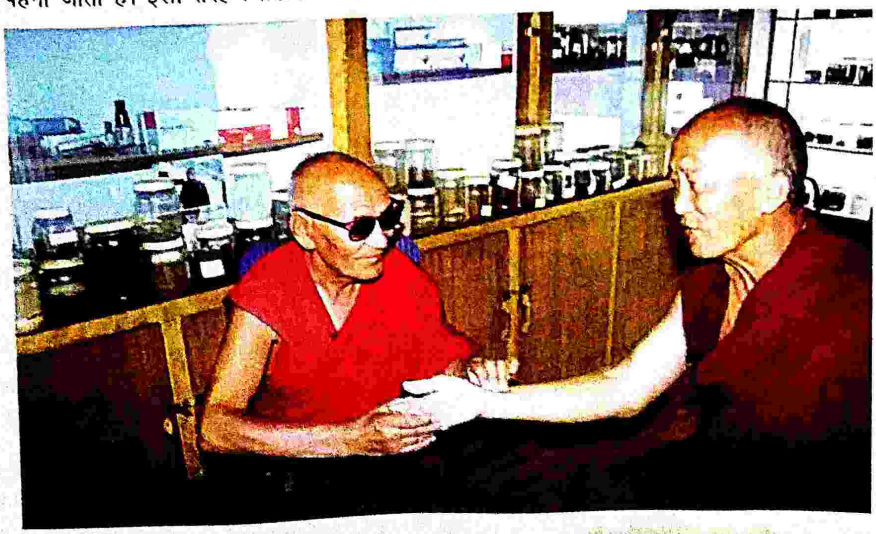

के सबसे आम हथकरघा उत्पाद *सुम्पा* और *गालुक* हैं, जो महिलाओं की टू-पीस पोशाक है, जबकि रभा महिलाएं *खानबंग* और *रिफान* बुनती हैं।

असम के मैदानी इलाकों के विपरीत, पहाड़ी राज्यों में आदिवासी समुदाय अपने रंगीन कपड़ों को बुनने के लिए पारंपरिक बैक-स्ट्रैप लूम या लोइन लूम का इस्तेमाल करते हैं। इन कपड़ों में अलग-अलग रंग और रंग संयोजन होते हैं साथ ही विभिन्न रूपांकन और डिजाइन होते हैं और प्रत्येक का पारंपरिक और सांस्कृतिक महत्व भी होता है, कुछ में हर जनजाति या समुदाय का इतिहास भी होता है।

मणिपुर में कुछ लोकप्रिय पारंपरिक कपड़ों में मीताईयों के *फानेक*, तांगखुल के *कासन*, और पैते, वैफई और जो जनजातियों के विभिन्न प्रकार के *पुआन*, थाडो के *खामतांग*, कोम के *पुन्कोफ़ोइ* इत्यादि शामिल हैं। अरुणाचल प्रदेश में आपातानी महिलाएं *बिलन-अबी, चिन्यू-अबी* और *जिग-जीरो* बुनती हैं, सिंगफो महिलाएं पुकांग सिलती हैं, निशी महिलाएं *पार-इज* बुनती हैं, खामती महिलाएं *सिउ-पाशाओ* और *सिन* बुनती हैं।

विभिन्न नागा जनजातियां अपना पारंपरिक कपड़ा बुनती हैं, जो बहुधा उनकी पहचान उजागर करते हैं। वे उन बुने कपड़ों से रैपर, अंगोछा, कमरपेटी, स्कर्ट, स्कार्फ और एप्रन बनाते हैं लेकिन इन रचनाओं में जो विशिष्ट हैं वे पुरुष शॉल हैं जिनमें अलग-अलग जनजातियों को प्रदर्शित करने वाले बूटे बुने जाते हैं। आव शॉल को *त्सुंगकोटेप्सू* कहा जाता है, जबकि अंगामी शॉल को *लोराम्हौशो* कहा जाता है। दूसरी ओर मिजोरम में महिलाएं *पुआन* की विभिन्न किस्में बुनती हैं जो कौशलपूर्ण ढंग से

बुने कोर और बेहतरीन क्षैतिज किनारियों वाला बिना कटा आयताकार सूती कपड़ा होता है जो ओढ़ने में काम आता है। उनमें से सबसे गौरवपूर्ण *तुअल्हाओपुआन* और *पुन्चेई* हैं।

इस क्षेत्र की संगीत समृद्धि को देखा जाए तो ज्ञात होता है कि यह एक ऐसा स्थान है जहां लगभग हर भाव को संगीत के माध्यम से व्यक्त किया जाता है - चाहे वह खुशी, दुःख, पूजा, उत्सव या फिर असंतोष और क्रोध ही क्यों न हो। इसी तरह विभिन्न समुदायों के पास संगीत वाद्ययंत्रों की एक विस्तृत विविधता है - मेघालय के गारो जनजाति के लंबे *डामा* से (वे वांगला उत्सव के दौरान 100 ड्रम एक सुर में बजाते हैं) से *भोर-ताल* (असम के सात्रा मठों में प्रयुक्त पीतल के बड़े झांझ) और मिजोरम के *बेंगबंग* (जाइलोफोन के समान) तक - ये सब अनुसंधान के अछूते क्षेत्र हैं।

इस क्षेत्र की विशेषता इसके जातीय समुदायों और समूहों के बीच कुछ तीक्ष्ण मतभेदों के बावजूद कायम अंतर्निहित अंतर्संबंध हैं। एक, इनमें से कई समुदायों की जातीय-सांस्कृतिक सीमाएं अंतर-राज्यीय, राष्ट्रीय और यहां तक कि अंतरराष्ट्रीय सीमाओं को काटती हुई गुजरती हैं। अनेक समुदायों का मूल सुदूर इतिहास में कहीं-न-कहीं एक ही है और इस तरह की समानता अक्सर उनके लोकगीतों, खान-पान और व्यंजनों, संगीत, नृत्यशैलियों और त्योहारों में परिलक्षित होती है,

मणिपुर में चेइराओबा मणिपुरी नव वर्ष का त्योहार है तो लाई-हरोबा त्योहार को उमंगलाई नामक वन देवता को प्रसन्न करने के लिए मनाया जाता है। याओसांग सप्ताह भर चलने वाला अद्भुत होली उत्सव है। रथ यात्रा जिसे कांग चिंगबा भी कहा जाता है नौ दिवसीय रथ त्योहार है जो भगवान जगन्नाथ को समर्पित है।

जो उन्हें सात बहनों (सिक्किम इनका एकमात्र भाई है) के रूप में एक अदृश्य सुनहरी डोर के साथ बांधती है। दूसरी बहुसांस्कृतिक सह-अस्तित्व की भौगोलिकता के साथ परस्पर जुड़े इन राज्यों को संविधान की छठी अनुसूची समान सुरक्षा और अवसर प्रदान करती है। सामान्य भाषाएं इस क्षेत्र में विकसित हुई हैं जैसे 18 नगा जनजातियों में नगामीज, मिज़ो हिल्स की विभिन्न जनजातियों के बीच मिज़ो, असम में विभिन्न समुदायों के बीच असमी और यहां तक कि अरुणाचल प्रदेश की जनजातियों में हिंदी से भी बहुत कुछ पता चलता है।

अंत में असम की महानतम सांस्कृतिक विभूति, ज्योतिप्रसाद अगरवाला की प्रसिद्ध कविताओं में से एक का उल्लेख किया जाना उपयुक्त है। 1943 में उन्होंने पूर्वोत्तर के प्रत्येक समुदाय को एक पर्वतीय धारा के समान माना, "उनमें से सैंकड़ों पहाड़ों और घाटियों से होकर तीव्र गति के साथ सभी बाधाओं को तोड़ते हुए नीचे की ओर एक होने के लिए बढ़ती हैं" (महान ब्रह्मपुत्र में विलीन होने के लिए)।

आगामी छह दशकों तक उनके महानतम शिष्य भूपेन हजारिका, जिनके बारे में कहा जाता है कि वह सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने उत्तर-पूर्व के हर छोर तक की यात्रा की और इस क्षेत्र के जीवंत समुदायों की आशा और निराशा को अपने अनगिनत गीतों में पिरो कर गाया। ■

संदर्भ

1. The Land of Seven Sisters. जेपी सैकिया द्वारा संपादित। 1976।
2. असम का व्यापक इतिहास, प्रकाशन बोर्ड, असम, 1992.
3. A Handbook of Folklore Materials of Northeast India. संपादक और मुख्य लेखक बीरेंद्रनाथ दत्ता, सह-लेखक नबीन चंद्र सरमा और प्रबीन चंद्र दास। 1994.
4. असम की जनजातियां, वॉल्यूम I-III. बीएन बोरदोलोई, जीसी सरमा ठाकुर, एमसी सैकिया। जनजातीय रिसर्च इंस्टीट्यूट, असम। 1987.
5. India Northeast: Paradise Unexplored. भारत सरकार पर्यटन। 2003.
6. पूर्वोत्तर क्षेत्र: विजन 2020. Ministry of DoNER. 2008.
7. ज्योतिप्रसाद रचनवली। संपादक-डॉ हिरेन गोहैन। प्रकाशन बोर्ड, असम। 2003.
8. पर्यटन विभागों द्वारा प्रकाशित पूर्वोत्तर राज्यों के विभिन्न फ़ोल्डर।

प्रकाशन विभाग के विक्रय केंद्र

नई दिल्ली	पुस्तक दीर्घा, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड	110003	011-24367260
दिल्ली	हाल सं. 196, पुराना सचिवालय	110054	011-23890205
नवी मुंबई	701, सी- विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन, बेलापुर	400614	022-27570686
कोलकाता	8, एसप्लानेड ईस्ट	700069	033-22488030
चेन्नई	'ए' विंग, राजाजी भवन, बसंत नगर	600090	044-24917673
तिरुअनंतपुरम	प्रेस रोड, नयी गवर्नमेंट प्रेस के निकट	695001	0471-2330650
हैदराबाद	कमरा सं. 204, दूसरा तल, सीजीओ टावर, कवाड़ीगुड़ा, सिकंदराबाद	500080	040-27535383
बेंगलुरु	फर्स्ट फ्लोर, 'एफ' विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला	560034	080-25537244
पटना	बिहार राज्य कोऑपरेटिव बैंक भवन, अशोक राजपथ	800004	0612-2683407
लखनऊ	हॉल सं-1, दूसरा तल, केंद्रीय भवन, क्षेत्र-एच, अलीगंज	226024	0522-2325455
अहमदाबाद	4-सी, नेप्चून टॉवर, चौथी मंजिल, नेहरू ब्रिज कॉर्नर, आश्रम रोड अहमदाबाद	380001	079-26588669

ग्रामीण अर्थव्यवस्था के उद्धार में बांस की भूमिका

सुरेश प्रभु

प्राकृतिक और स्वदेशी कच्ची सामग्री के तौर पर बांस ग्रामीण अर्थव्यवस्था के उद्धार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। यह कृषि और उद्योग, दोनों ही क्षेत्रों को प्रभावित करने की क्षमता रखती है। यह पृथ्वी पर पर्यावरण के लिये सबसे ज्यादा अनुकूल पौधा है। यह कार्बन का सबसे ज्यादा पृथकीकरण करने वाली पादप प्रजातियों में से एक है। बांस तेजी से बढ़ कर कुछेक वर्षों में ही तैयार हो जाती है। यह कटाई के बाद फिर से बढ़ जाती है और इसे बार-बार रोपने की जरूरत नहीं पड़ती।

कोरोना वायरस की वैश्विक महामारी ने दुनिया की अर्थव्यवस्था पर कहर बरपा कर दिया है। भारतीय अर्थव्यवस्था भी इससे अछूती नहीं रही है। सभी आर्थिक गतिविधियां बंद होने और मजदूरों की शहरों से ग्रामीण क्षेत्रों की ओर वापसी की वजह से लॉकडाउन ने अर्थव्यवस्था को दोहरा आघात पहुंचाया है। लॉकडाउन के कारण औद्योगिक, सेवा और कृषि क्षेत्र को जबर्दस्त नुकसान उठाना पड़ रहा है। इन उद्योगों को उत्पादन को कोविड से पहले के स्तर तक पहुंचाने में जो समय लगेगा उसे भी जोड़ लें तो आंकड़े विचलित करने वाले नजर आयेंगे।

ग्रामीण क्षेत्र पहले से ही बेरोजगारी और अल्परोजगारी की समस्या से जूझ रहे हैं। देश भर के शहरों तथा औद्योगिक और कृषि एवं बागवानी क्षेत्रों से ग्रामीणों के बड़े पैमाने पर गांवों की ओर पलायन ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर दबाव काफी बढ़ा दिया है। सरकार ने गांव लौटने वाले मजदूरों की परेशानियों को घटाने के लिये कदम उठाये हैं। उसने महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून (एमजीएनआरईजीए) के तहत कामकाज का विस्तार किया है ताकि इन मजदूरों को कुछ काम मिल सके।

लेकिन गांव लौटने वाले इन मजदूरों में बड़ी संख्या कुशल और अर्द्धकुशल कामगारों की है। वे औद्योगिक इकाइयों, निर्माण उद्योग, आतिथ्य, प्रचालन तंत्र और खुदरा व्यापार जैसे सेवा क्षेत्रों तथा वाणिज्यिक कृषि और बागवानी में काम कर रहे थे। एमजीएनआरईजीए उन्हें अपने कौशल का इस्तेमाल कर आजीविका कमाने का अवसर मुहैया नहीं कराता। लिहाजा एमजीएनआरईजीए को इन मजदूरों की मदद के लिये आपातकालीन प्रावधान ही

लेखक जी-20 और जी-7 के लिये प्रधानमंत्री के शेरपा हैं। मौजूदा समय में राज्यसभा के सदस्य श्री प्रभु केन्द्र सरकार में कई मंत्रालयों का प्रभार संभाल चुके हैं।
ईमेल: sprabhu@sansad.nic.in

बांस: सांस्कृतिक संबंध

पेना एक तार वाला संगीत यंत्र है। इसके दो हिस्से होते हैं- पेनामासा या धोर और पेना चीजिंग या छोर। पेनामासा नारियल की खोपड़ी से जुड़ा बांस का एक टुकड़ा है। धनुष के आकार की पेना चीजिंग का इस्तेमाल तार पर घर्षण पैदा करने के लिये किया जाता है। पेना बजाने वाले को पेना अशीबा या पेना खोंगबा कहते हैं। वह वाद्य यंत्र को बजाते हुए गायन भी करता है। पेना मणिपुर के मेतेई समाज का अभिन्न अंग है। इसका वादन लाई हारौबा और लाई इकोबा जैसे पारंपरिक समारोहों के दौरान किया जाता है।

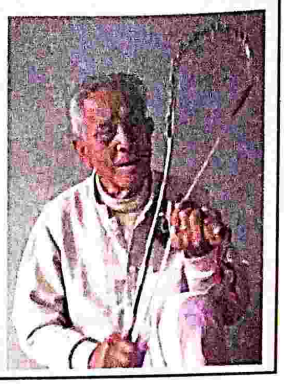

माना जा सकता है। वास्तव में अपने गांवों और कस्बों में रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं होने के कारण ही इन लोगों ने वहां से पलायन किया था।

वैज्ञानिक अनुसंधानों से पता चलता है कि नोवेल कोरोना वायरस से हमारा पीछा नहीं छूटना। विकास का हमारा मॉडल शहर केन्द्रित है। इसलिये जरूरी हो जाता है कि शहरों में इस वैश्विक महामारी पर जल्दी-से-जल्दी काबू पाया जाये ताकि अर्थव्यवस्था को खोला जा सके। विकास की शहर केन्द्रित और संघनित प्रकृति ने उच्च घनत्व वाले आर्थिक क्षेत्रों को जन्म दिया है। किफायती आवास और योजनाबद्ध शहरी विकास के अभाव में प्रवासी मजदूरों को भीड़भाड़ वाले और अस्वच्छ वातावरण में रहना पड़ता है। अक्सर उन्हें पानी और स्वच्छता की सुविधाएं भी नियमित तौर पर नहीं मिल पाती हैं। इस वैश्विक महामारी ने दिखा दिया है कि हमारी सरकारी और निजी स्वास्थ्य सेवा संरचना कोविड 19 के रोगियों की बढ़ती संख्या से निपटने के लिये तैयार नहीं है।

मजदूरों की गांव वापसी से देश भर के विकास क्षेत्रों में उद्योग, सेवा और वाणिज्यिक कृषि बुरी तरह प्रभावित हुई है। अर्थव्यवस्था को फिर से शुरू करने के लिये इन कुशल मजदूरों को विकास क्षेत्रों में वापस लाने की कोशिशें की जा रही हैं। एक सच यह भी है कि गांवों से बड़ी संख्या में पलायन की वजह से शहरी विकास क्षेत्रों में मजदूरों की संख्या जरूरत से ज्यादा हो गयी थी। इससे इन शहरी विकास क्षेत्रों में भी अल्परोजगारी और बेरोजगारी पैदा हो गयी थी। इसलिये इन अर्द्धकुशल और कुशल मजदूरों के इस अतिरिक्त बल को गांवों में ही रोकना भी आवश्यक है। इससे शहरी विकास केन्द्रों में आबादी का दबाव घटेगा और देश की ग्रामीण अर्थव्यवस्था के उद्धार के लिये हमारे गांवों में अर्द्धकुशल और कुशल कामगार उपलब्ध होंगे।

कोरोना वायरस से मुकाबले का यह समय लीक से हट कर सोचने और एक आत्मनिर्भर भारत के निर्माण के लिये काम करने का अच्छा अवसर मुहैया कराता है। हमें याद रखना चाहिये कि प्राचीन समय में भारत एक मजबूत और आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था था। औद्योगीकरण से पहले की भारतीय अर्थव्यवस्था एक जीवंत वैश्विक व्यापार का हिस्सा रही है जिसमें स्थानीय हस्तशिल्पियों के प्राकृतिक कच्चे माल से निर्मित उत्पादों की जबर्दस्त मांग थी। हमें भारत की इस महान आर्थिक विरासत से सबक लेकर वैश्विक व्यापार में अपनी पहुंच बढ़ाने के लिये काम करना चाहिये। आर्थिक प्रगति के इस परिवर्तित तरीके से हम संवहनीय विकास के रास्ते पर चल सकेंगे। इसके अलावा हम शमन और अनुकूलन की प्रक्रिया के जरिये जलवायु परिवर्तन की चुनौती से निपटने में भी सक्षम होंगे।

प्राकृतिक और स्वदेशी कच्ची सामग्री के तौर पर बांस ग्रामीण अर्थव्यवस्था के उद्धार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। यह कृषि और उद्योग, दोनों ही क्षेत्रों को प्रभावित करने में सक्षम है। यह पृथ्वी का पर्यावरण के लिये सबसे ज्यादा अनुकूल पौधा है। यह कार्बन का सबसे ज्यादा पृथकीकरण करने वाली पादप प्रजातियों में से एक है। बांस तेजी से बढ़ कर कुछेक वर्षों में ही तैयार हो जाती है। यह कटाई के बाद फिर से बढ़ जाती है और इसे बार-बार रोपने

की जरूरत नहीं पड़ती। यह भूमि क्षय को नियंत्रित करने, भूजल का स्तर बढ़ाने और बेहद बंजर जमीन तक की उर्वरता में बढ़ोतरी के लिये बहुत ही प्रभावी प्राकृतिक साधन का काम करती है। इसलिये बांस परती भूमि की उर्वरता बहाल कर और वनों के संरक्षण के जरिये मरूस्थलीकरण से निपटने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है।

बांस हर साल भूमि पर छह से आठ इंच तक सड़ी पत्तियों की मिट्टी का इजाफा करती है। बांस का एक पौधा छह सीयूएम तक मिट्टी को जोड़ सकता है। बांस की ज्यादातर प्रजातियां एक सदाबहार छतरी बना कर समूचे साल पत्तियां गिराते हुए मिट्टी की गुणवत्ता बढ़ाने में योगदान करती हैं। खेतों की सरहदों और खेती की जमीन पर लगा कर इसे कृषि से आसानी से जोड़ा जा सकता है। इसे परती और बंजर जमीन समेत गैरकृषि भूमि पर और बस्तियों में भी लगाया जाना मुमकिन है। बांस की कटाई साल में कभी भी की जा सकती है। लिहाजा अपेक्षाकृत अस्थिर कृषि से जुड़े किसानों को यह सालों भर आमदनी का एक ठोस और भरोसेमंद पूरक स्रोत मुहैया कराती है।

सुंदर और कई तरह के कामों में इस्तेमाल होने वाली घास प्रजाति की बांस फर्नीचर तथा घरेलू और सजावटी सामान के निर्माण में तेजी से लकड़ी का स्थान ले रही है। बांस की तन्यता की ताकत का इस्तेमाल निर्माण जैसे उद्योगों में इस्पात का इस्तेमाल घटाने में भी किया जा रहा है। इसमें निर्माण क्षेत्र में कार्यस्थल पर और उससे दूर काफी रोजगार पैदा करने की क्षमता है।

अंतरराष्ट्रीय बांस और रतन संगठन (आईएनबीएआर) एक बहुपक्षीय विकास संस्था है। यह बांस और रतन के इस्तेमाल से पर्यावरण के लिये संवहनीय विकास को बढ़ावा देता है। इसका अनूठा ढांचा इसे 46 सदस्य देशों का एक महत्वपूर्ण प्रतिनिधि बनाता है। इसके 40 से ज्यादा सदस्य विकासशील विश्व से हैं। इसने पिछले दो दशकों में विकासशील देशों के बीच सहयोग बढ़ाने में खास तौर से बड़ी भूमिका निभायी है। आईएनबीएआर ने मानदंडों को बढ़ाने, बांस के जरिये सुरक्षित और मजबूत निर्माण को बढ़ावा देने, बंजर भूमि की उर्वरता में सुधार, क्षमता निर्माण तथा हरित नीति और संवहनीय विकास लक्ष्यों के

प्रचार में उपलब्धियां हासिल की हैं। इस तरह वह अपनी स्थापना के बाद से ही विश्व भर में लाखों लोगों की जिंदगियों और पर्यावरण में सही मायनों में सुधार लाता रहा है। मैं जब केन्द्रीय पर्यावरण और वन मंत्री था उसी दौरान 1998 में भारत ने आईएनबीएआर संधि पर दस्तखत किये।

मेरे मंत्रालय ने देश में बांस को बढ़ावा देने के लिये पहल की। मैंने 2004 में महाराष्ट्र के सिंधुदुर्ग जिले में अपने चुनाव क्षेत्र में कोंकण बांस और बेंत विकास केन्द्र (कोनबैक) नामक लाभ निरपेक्ष संस्था के गठन में मदद की। कोनबैक ने आईएनबीएआर के सहयोग से समावेशी हरित अर्थव्यवस्था के विकास के लिये महत्वपूर्ण संसाधन के रूप में बांस को बढ़ावा देने पर ध्यान केन्द्रित किया। उसकी महत्वपूर्ण रणनीतियों में बांस को गरीबों के लिये लकड़ी के भरोसेमंद विकल्प के रूप में स्थापित करने के मकसद से काम करना शामिल था। इससे ग्रामीण गरीबों और छोटे जोतदारों को 100 अरब अमेरिकी डॉलर से ज्यादा के काष्ठ उत्पाद बाजार में भाग लेने और इससे लाभ उठाने का मौका मिला। दूसरी महत्वपूर्ण रणनीति बांस के गैर-कृषि आर्थिक मूल्य और इसकी उपज से होने वाले पर्यावरणीय लाभ के अवसर के दोहन की थी।

कोनबैक भारत और विदेश में फर्नीचर और घरेलू इस्तेमाल के अन्य सामान बनाने के साथ ही समूचे इमारती ढांचे का पूरी तरह बांस से निर्माण भी करता है। पिछले 16 वर्षों में इसने बांस को गरीबों की लकड़ी के बजाय अमीरों की पसंद के रूप में स्थापित करने में सफलता हासिल की है। फर्नीचर और निर्माण उद्योग में इसका उपयोग उच्च गुणवत्ता वाली लकड़ी के विश्वसनीय विकल्प के तौर पर किया जाने लगा है। इससे पर्यावरण के प्रति सचेत समुदाय और अनूठापन चाहने वाले उपभोक्ताओं के लिये पसंदीदा सामग्री के रूप में बांस के महत्व में वृद्धि में मदद मिली है।

कोरोना वायरस से मुकाबले का यह समय लीक से हट कर सोचने और एक आत्मनिर्भर भारत के निर्माण के लिये काम करने का अच्छा अवसर मुहैया कराता है। हमें याद रखना चाहिये कि प्राचीन समय में भारत एक मजबूत और आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था था। औद्योगीकरण से पहले की भारतीय अर्थव्यवस्था एक जीवंत वैश्विक व्यापार का हिस्सा रही है जिसमें स्थानीय हस्तशिल्पियों के प्राकृतिक कच्चे माल से निर्मित उत्पादों की जबर्दस्त मांग थी। हमें भारत की इस महान आर्थिक विरासत से सबक लेकर वैश्विक व्यापार में अपनी पहुंच बढ़ाने के लिये काम करना चाहिये।

नाझू पर्व - नगालैंड

नगालैंड के फेक जिले में बसे मुलुओरी की पोचुरी नगा जनजाति का नाझू पर्व काबिले गौर है। एक छोटा-सा समूह इस पर्व को अब भी मनाता है। उसने अपने पूर्वजों के धर्म से जुड़ी अनुष्ठान की इस प्रथा को किसी तरह जीवित रखा है। नाझू का सबसे प्रतीकात्मक और अनूठा तत्व बांस के कुलदेवता अवूथरू को टांगा जाना है। अवूथरू एक लंबे बांस से टांगे गये विशाल विंड चाइम की तरह होता है। इस कुलदेवता को 20 और 24 फरवरी के बीच किसी दिन टांगा जाता है। लानिरी नेल के लिये कुलदेवता को 24 फरवरी को ऊपर किया जाता है और उसी दिन सभी औपचारिकताएं पूरी की जाती हैं। ■

कोनवैक ने अपना एक स्वत: संवहनीय सांस्थानिक पर्यावरण तंत्र विकसित कर लिया है। उसके पास स्वदेशी और अंतरराष्ट्रीय बाजारों के लिये बांस उत्पादों की डिजाइनिंग, नमूना निर्माण और उत्पादन की पूरी तरह विकसित सुविधा है। उसने गरीब बांस उत्पादकों को बड़े लाभकारी बाजारों से जोड़ने का एक तंत्र बना लिया है। उसके मॉडल का अनुकरण भारत में अन्य स्थानों पर और विदेशों में भी किया जा रहा है। इन पहलकदमियों से पिछले 16 वर्षों में हजारों लोगों को आमदनी का स्रोत मिला है। इसने बांस के रोपन के जरिये पर्यावरण को हरा-भरा बनाने में भी योगदान किया है। कोनबैक का अनुभव बताता है कि बांस क्षेत्र में किसानों तथा ग्रामीण युवाओं और महिलाओं को कृषि आधारित और गैरकृषि उद्यमों में अनुकरणीय उद्यमिता और रोजगार के अवसर मुहैया कराने की क्षमता है।

कृषि-औद्योगीकरण के लिये महत्वपूर्ण संचालक के रूप में बांस को बढ़ावा देने से जुड़ा एक अन्य पहलू भी है। यह उच्च प्रौद्योगिकी और आधारभूत संरचना पर निर्भर नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में बांस और स्थानीय मजदूर आसानी से उपलब्ध हैं। बांस क्षेत्रों को 'हब एंड स्पोक' मॉडल पर विकसित किया जा सकता है। इसमें प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल और उच्च कौशल वाली प्रक्रियाएं धुरी पर संचालित की जाएंगी। दूसरी ओर प्राथमिक प्रक्रियाओं का संचालन ग्रामीण स्तर पर होगा। उत्पादन के इस विकेन्द्रित मॉडल से देश भर में ग्रामीण समुदायों के लिये रोजगार के काफी अवसर पैदा हो सकते हैं।

हरा सोना के नाम से मशहूर इस मामूली-सी घास में ग्रामीण अर्थव्यवस्था का उद्धार करने की क्षमता है। यह जलवायु अनुकूलता के निर्माण और एक समावेशी हरित अर्थव्यवस्था के उत्प्रेरण के लिये एक महत्वपूर्ण संसाधन भी है। बांस के संवहनीय गुण संसाधनों के सतत इस्तेमाल के जरिये बर्बादी रोकने वाली वृत्तीय अर्थव्यवस्था पर आधुनिक नीतिगत बहस में महत्वपूर्ण हैं। वृत्तीय अर्थव्यवस्था में नवीकरणीय उत्पादों, सेवाओं और आपूर्ति शृंखलाओं की डिजाइन शामिल है। यह अर्थव्यवस्था नवीकरणीय ऊर्जा और संसाधनों पर आधारित है, कचरा पैदा नहीं करती तथा उत्पादों और सामग्रियों को ज्यादा-से-ज्यादा समय तक इस्तेमाल में रखती है। बांस ऐसी अर्थव्यवस्था की बुनियाद साबित हो सकती है। यह भारत के लिये एक समावेशी हरित अर्थव्यवस्था की ओर छलांग लगाने का अवसर मुहैया कराती है। ■

विविधता से परिपूर्ण महाराष्ट्र

मीनल जोगलेकर

महाराष्ट्र की संस्कृति आकर्षक लोक कला, परंपरागत, मनमोहक और कला की समकालीन शैलियों, समृद्ध साहित्य, जबरदस्त त्योहारों, स्वादिष्ट भोजन, रंग-बिरंगे परिधानों, विभिन्न कलाकृतियों और उन्नत आधुनिक मनोरंजन का पूर्ण मिश्रण है। कोई भी युग रहा हो, इसने दुनिया भर के कलाकारों को हमेशा प्रेरित किया है और आने वाली पीढ़ियों को प्रेरणा देता रहेगा।

महाराष्ट्र, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, वास्तव में एक शानदार भूमि है, जिसमें कला, संस्कृति, परंपरा, वास्तुकला और साहित्य की अनूठी और शानदार विरासत है। सुरम्य समुद्री तट, सह्याद्री पर्वत शृंखला, भरपूर नदियां आदि भौगोलिक और साथ ही राज्य की समृद्ध सांस्कृतिक विविधता में योगदान करती हैं। यहां, हम कुछ पारंपरिक दृश्य कलाओं और महाराष्ट्र की लोक कला शैलियों के बारे में संक्षिप्त जानकारी हासिल करते हैं।

दृश्य कला

महाराष्ट्र की समृद्ध दृश्य कला गुफाओं और ग्रोटो में चट्टानों पर बनी सम्मोहित कर देने वाली प्रस्तर प्रतिमाओं से लेकर, चौंका देने वाले भित्ति चित्र, विशिष्ट मंदिर वास्तुकला से लेकर, बेहद अनोखी चित्रकथी और गंजीफा पेंटिंग, पसंदीदा वार्ली पेंटिंग से लेकर आकर्षक रंगोली से लेकर हाल ही में खोजी गई पेट्रोग्लिफ्स (चट्टान पर नक्काशी) तक फैली हुई है।

गुफा कला

भारत में महाराष्ट्र एक ऐसा प्रदेश है जहां सबसे अधिक संख्या में गुफाएं हैं। इनमें प्रत्येक आकार की, विविध बनावट और रंगों वाली, प्राचीन चट्टानों को काटकर गूढ़ मूर्तिकला के साथ बनाई गई गुफाएं शामिल हैं। ये गुफाएं आकर्षक पुरातत्व विरासत हैं। गुफाएं दुनिया के प्रति समझ पैदा करती हैं- कि ये उस समय और उस सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं के दौरान मौजूद थीं। एलिफेंटा, अजंता और एलोरा की गुफाएं यूनेस्को की विश्व धरोहर स्थल सूची में शामिल हैं।

औरंगाबाद के नजदीक अजंता और एलोरा की गुफाएं असाधारण रूप से इस बात की याद दिलाती हैं कि उस समय बौद्ध धर्म अपने चरम पर था। वहां लगभग 800 गुफाएं विभिन्न जिलों में फैली हुई हैं, लेकिन इनमें से अजंता स्थित 32 गुफाएं अपनी वास्तुकला संबंधी भव्यता, विरासत और कलात्मक कृतियों के कारण विशिष्ट

लेखिका महाराष्ट्र सरकार के सांस्कृतिक निदेशालय में संयुक्त निदेशक हैं। ईमेल: meenalsj0@gmail.com

रूप से अलग हैं। इन गुफाओं में बनी पेंटिंग और चट्टानों को काटकर बनाए गए वास्तुशिल्प प्राचीन भारतीय कला के बेहतरीन जीवंत उदाहरणों में हैं, विशेषकर भावात्मक पेंटिंग जो भाव, मुद्रा और शैली के माध्यम से भावनाओं को प्रस्तुत करती हैं। अजंता की गुफा 16, 17, 1 और 2 बचे हुए प्राचीन भारतीय भित्ति चित्रों का सबसे बड़ा संग्रह है। एलोरा जिसे वेरूल भी कहा जाता है, लगभग 1500 वर्ष पहले राष्ट्रकूट वंश के समय की हैं। इस स्थान पर 100 से अधिक गुफाएं हैं, सभी चरणंद्री पहाड़ियों में बेसॉल्ट चीनी मिट्टी की चट्टानों से खुदाई करके निकली हैं, जिनमें से 34 जनता के लिए खुली हैं, जिनमें बौद्ध, हिंदू और जैन 'विहारों' और 'मठ' के प्रमाण मिलते हैं। दुनिया की सबसे बड़ी एक चट्टान को काटकर बनाई गई गुफा 16, भगवान शिव को समर्पित कैलाश मंदिर है, जो रथ के आकार का एक स्मारक है। एलोरा से लगभग 40 किलोमीटर दूर, महाराष्ट्र की सतमाला पहाड़ी श्रृंखला में स्थित पीतलखोरा गुफाओं में 14 चट्टानों को काटकर बने गुफा स्मारक हैं, जो तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व की हैं।

एलिफेंटा गुफाएं मुंबई के नजदीक समुद्र में एक छोटे-से द्वीप पर स्थित हैं। गुफाएं ठोस बेसॉल्ट चट्टान को काटकर बनाई गई हैं। इनकी नक्काशी हिंदू पौराणिक कथाओं का वर्णन करती है, जिसमें एक बड़ी चट्टान को काटकर बनाई गई 20 फुट ऊंचे प्रतिष्ठित त्रिमूर्ति सदाशिव (तीन मुंह वाले शिव), नटराज (नृत्य की मुद्रा में भगवान) और योगीश्वर (योग की मुद्रा में भगवान) का वर्णन है। पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म के विकास को समझने के लिए मुंबई के बाहरी इलाके के आसपास की कन्हेरी गुफाएं बहुत महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। इनमें बौद्ध मूर्तियां और उभरी हुई नक्काशी, पेंटिंग और शिलालेख शामिल हैं, जो पहली शताब्दी सीई से 10वीं शताब्दी सीई तक के हैं। भजा, करला, बेदसे, पांडवलेनी, लेन्याद्री, मनमोदी और शिवनेरी गुफाएं अपनी वास्तुकला, मूर्तिकला और पेंटिंग के लिए प्रसिद्ध हैं।

जड़ीपट्टी और दशावतार - महाराष्ट्र

(कार्य क्षेत्र : कला का प्रदर्शन)

जड़ीपट्टी

जड़ीपट्टी का अभ्यास महाराष्ट्र के चावल की खेती वाले क्षेत्र/पूर्वी क्षेत्र में किया जाता है, जिसमें चंद्रपुर भंडारा और विदर्भ का गढ़चिरौली जिला शामिल हैं, फसल के मौसम के दौरान और चावल के स्थानीय नाम जड़ी से इसका नाम निकला है। इस क्षेत्र की रंगमंच कला को जड़ीपट्टी रंगभूमि के नाम से जाना जाता है। यह व्यावसायिक और लोक रंगमंच के रूप का मिश्रण है। जीवंत संगीत शैली का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है और अभिनेता गायक भी होते हैं। हालांकि इन दिनों विभिन्न थियेटर समूहों द्वारा इस शैली का अभ्यास किया जाता है, इस क्षेत्र में गोंड, कोरकू और पारधी जैसी जनजातियां रहती हैं; और जड़ीपट्टी का जन्म डांडर नामक जनजातीय कला से हुआ, जिसमें संगीत और नृत्य के संयोजन में थियेटर जैसा अभिनय देखने को मिलता है।

दशावतार : परंपरागत लोक रंगमंच शैली

दशावतार महाराष्ट्र के दक्षिण कोंकण क्षेत्र और गोवा के उत्तरी गोवा जिले के सिंधुदुर्ग जिले में कृषकों या किसानों के बीच प्रचलित एक लोक रंगमंच है। दशावतार आज ग्रामीण क्षेत्रों में नाटक का लोकप्रिय रूप है। शुरू में यह कोंकण क्षेत्र में लोकप्रिय हुआ, आज इसे अच्छी कला के रूप में देखा जाता है। अभिनेता जोरदार मेकअप और वेशभूषा का उपयोग करता है। इसमें संगीत के तीन वाद्ययंत्र होते हैं: एक पैडल हारमोनियम, तबला और जंज (झांझ)।

पेट्रोग्लिफ्स (चट्टान पर नक्काशी)

रत्नागिरि जिले में हाल ही में खोजी गई नक्कांशीदार 1000 चट्टानों अत्यधिक पुरातात्विक महत्व है। अनुमान है कि ये चट्टानें 1200 साल पुरानी हैं, नक्काशी कला 52 से अधिक स्थानों पर दिखाई देती है, जिसमें मनुष्यों और जानवरों की आकृतियों से लेकर काल्पनिक नमूने और प्रजनन चिह्नों की एक विशाल शृंखला है। उन्हें अंदर की तरफ गहरा काटकर लेटराइट पत्थर की सपाट खुली सतह में उकेरा गया है, जो आकृतियों को एक पैमाना और अद्वितीय रूप देता है।

वार्ली पेंटिंग

वार्ली कला उन आदिवासियों की चित्रकला शैली है, जो मुख्य रूप से ठाणे जिले के दहानु, तालसेरी, जौहर, पालघर, मोखदा और विक्रमगढ़ में निवास करते हैं। इस कला में प्रकृति और आदिवासियों की गोजमर्रा की गतिविधियों का वर्णन करने के लिए गोलाकार, त्रिकोण और वर्गाकार जैसी मूलभूत आकृतियों का उपयोग किया जाता है। गोलाकार सूर्य और चंद्रमा को दर्शाते हैं, त्रिकोण पर्वतों और नुकीले पेड़ों को और वर्गाकार एक पवित्र स्थान या भूमि के एक टुकड़े की ओर संकेत करता है। इन औपचारिक पेंटिंग का प्रमुख मूलभाव शिकार खेलने, मछली पकड़ने और खेती, त्योहारों और नृत्यों, पेड़ों और जानवरों को चित्रित करने वाले दृश्यों से घिरा रहता है। छोर पर जुड़े दो त्रिकोण मनुष्यों और जानवरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विधि-विधान वाली पेंटिंग के अलावा, अन्य वार्ली पेंटिंग लोगों की दैनिक गतिविधियों को दिखाते हैं। वार्ली पेंटिंग में केवल सफेद रंग का उपयोग किया जाता है। सफेद रंगचावल के पेस्ट और पानी के मिश्रण से तैयार किया जाता है जिसे बांधने के लिए गोंद डाली जाती है। एक छोर पर कुचली हुई बांस की डंडी का पेंट ब्रश के रूप में उपयोग किया जाता है।

पिंगुली चित्रकथी

सिंधुदुर्ग में कुडाल के नजदीक पिंगुली गांव की ठक्कर जनजाति 17वीं शताब्दी से पिंगुली चित्रकथीका अभ्यास कर रही है। कागज, ब्रश और हस्तनिर्मित रंगों का उपयोग करके पेंटिंग की उनकी अनूठी शैली की जाती है। इसमें एक ग्रंथमाला का अनुसरण किया जाता है और यह *महाभारत* और *रामायण* की कहानियों पर आधारित है। कहानी का वर्णन करने के लिए चित्रों के एक संग्रह का उपयोग किया जाता है, जो कि परंपरागत वाद्ययंत्रों जैसे *वीणा, ताल* और *हुदुक* के संगीत से तैयार गीतों के रूप में सामने आता है।

वाद्ययंत्र आसानी से उपलब्ध सामग्रियों जैसे कि बांस, जानवर की खाल, लौकी, मिट्टी और पत्तियों से बनाये जाते हैं जो बड़ी निपुणता के साथ बजाए जाते हैं। सभी महत्वपूर्ण घटनाएं, जैसे बच्चे का जन्म, दीक्षा संस्कार, विवाह या मृत्यु, साथ ही मौसम में बदलाव और कटाई के साथ विशिष्ट संगीत जुड़ा हुआ है।

गंजीफा

गंजीफा हाथ से बने ताश के पत्ते हैं जो पहले सावंतवादी शाही परिवार द्वारा उपयोग किए जाते थे और अब दुनिया भर के कई संग्रहालयों में पहुंच चुके हैं। ताश के ये पत्ते कागज़ के गोलाकार टुकड़ों से बनाए गए हैं, जिन पर दशावतार (भगवान विष्णु के दस अवतार) के गूढ़ डिज़ाइन हाथ से पेंट किए जाते हैं। दशावतार गंजीफा के एक सेट में 120 पत्ते होते हैं। ताश के पत्ता दस रंगों के हैं, जिनमें से प्रत्येक में 12 पत्ते हैं। पत्ते कागज से बने होते हैं जो इमली के बीज के पाउडर और तेल के मिश्रण से ढके होते हैं, चित्रित होते हैं और इन्हें लाख से पेंट किया जाता है और उससे कोटिंग होती है। शाही पत्तों में सजावटी बॉर्डर होते थे। कार्ड के सेट को रखने के लिए बनाए गए बॉक्स को चारों तरफ से विशेष चित्रों और सजावटी नमूनों के साथ तैयार किया जाता है। सावंतवादी शाही परिवार के संरक्षण में, चितारी समुदाय ने खत्म हो रही कला को संरक्षित किया है।

भित्ति चित्र

भित्ति चित्र कला की एक शैली है जो घरों या मंदिरों की दीवारों पर धार्मिक विषयों को दर्शाती है। माथेरान या महात्मा समुदाय, जो अपने प्राकृतिक रंगे हुए चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं, परंपरागत भित्ति चित्र कलाकार हैं। पेंटिंग सोने और चांदी से अलंकृत हैं ताकि

चित्रण को उभारा जा सके। इन्हें आमतौर पर मंदिर की दीवारों पर बनाया गया है और प्रायः गूढ़ हैं। भित्ति चित्र वाली दीवारों और विस्तारपूर्वक छतों पर पेंट किए गए चित्र इस समुदाय के काम के धार्मिक संदर्भ को प्रकट करते हैं। माथेरान पाली के नजदीक गोडवार्ड में रहते हैं और गणगौर मूर्तियों को पेंट करने के लिए जाने जाते हैं।

रंगोली

रंगोली फर्श पर बनाई जाने वाली परंपरागत कला है जो लगभग हर घर में प्रचलित है। रंगीन चावल, सूखा आटा, रंगीन रेत या फूलों की पंखुड़ियों जैसी सामग्री का उपयोग करके फर्श या जमीन पर मंत्रमुग्ध कर देने वाले डिजाइन बनाए जाते हैं। रंगोली में बनाई गई सुंदर रंग योजनाएं, डिजाइन, चीजें और लोग इतने वास्तविक लगते हैं कि यकीन करने में थोड़ा समय लगता है कि ये तस्वीरें नहीं हैं, बल्कि सूखे रंगों के चक्कर, उतार-चढ़ाव और छींटों के साथ बनाए गए चित्र हैं। हाल के दिनों में, वसई जिले के एक छोटे गांव, जुचंद्र के रंगोली कलाकारों ने नए रंगोली रूपों- खाद्य चित्र, प्रकृति और प्राकृतिक दृश्य, पानी के भीतर और पानी पर, ज्यामितीय, तीन आयामी, चित्र और *संस्कार भारती* को लोकप्रिय बनाया है। रंगोली के विषय विविध हैं: धार्मिक त्योहार मनाना, ऐतिहासिक या सामयिक व्यक्तित्व और घटनाएं, तथा कन्या भ्रूण हत्या, राष्ट्रीय अखंडता जैसे वर्तमान सामाजिक मुद्दों को उजागर करना। गिल्टर पेंट्स और स्टिकर्स आर्ट फॉर्म को और भी खूबसूरत बनाते हैं।

कला प्रदर्शन

महाराष्ट्र में गायन, नृत्य, कठपुतली, रंगमंच जैसे कला प्रदर्शनों की समृद्ध विरासत है, जो आश्चर्यजनक और जीवंत हैं।

जनजातीय संगीतः भील, महादेव कोली, गोंड, वार्ली, कोकना, कटकरी, ठाकुर, गावित, कोलम, कोरकू, अंध, मल्हार और पारधी जनजातियां ज्यादातर खंडेश, कोलाबा, नासिक और पुणे तथा अहमदनगर के कुछ हिस्सों में मुख्य रूप से बसी हुई हैं। उनके संगीत की एक महत्वपूर्ण विशेषता उनकी चाल और संगीत का करीबी मिश्रण है। वाद्ययंत्र आसानी से उपलब्ध सामग्रियों जैसे कि बांस, जानवर की खाल, लौकी, मिट्टी और पत्तियों से बनाये जाते हैं जो बड़ी निपुण

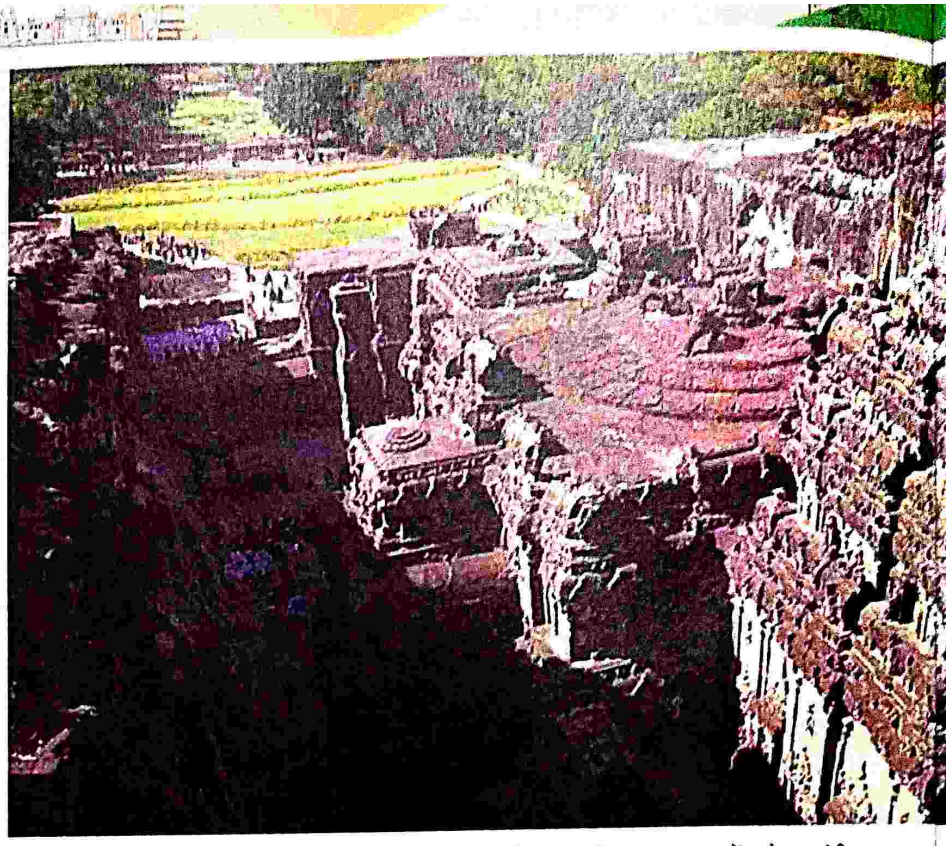

ता के साथ बजाए जाते हैं। सभी महत्वपूर्ण घटनाएं, जैसे बच्चे का जन्म, दीक्षा संस्कार, विवाह या मृत्यु, साथ ही मौसम में बदलाव और कटाई के साथ विशिष्ट संगीत जुड़ा हुआ है।

एकतारी (एक तार वाला ड्रोन) मधुर सहयोग प्रदान करता है, जबकि मृदंग (दोतरफा क्षैतिज ड्रम), ताल (झांझ), चिपलिया (घंटे का लटकन) लय का ख्याल रखते हैं। ताल के लिए सामान्यतः चार और आठ के चक्रों का उपयोग किया जाता है। भजन, कीर्तन, संकीर्तन या गायन जैसे प्रारूप विभिन्न संयोजनों में विकसित हुए हैं। इसके अलावा, धवले, अभंग, गोलन, भरूड़, स्तोत्र, आरती, श्लोक, अवी, करुणाष्टक, फटका, कतव और विरानी सहित रूपों की एक पूरी शृंखला विकसित की गई है।

लोक संगीतः महाराष्ट्र में लोक संगीत की समृद्ध परंपरा है।

नंदीवाला

नंदीवाला एक विशेषज्ञ कलाकार है जो पशु प्रदर्शनी प्रस्तुत करते हैं। करतब के साथ कुछ भविष्यवाणियों को मिलाकर वह *गुबगुबी* (दो तरफा ढोलक), *गड़याल-टिपरू* (धातु के चक्र पर चोट करने वाला लकड़ी का हथौड़ा) और छोटी घंटियों को वाद्य यंत्रों के रूप में इस्तेमाल करता है। लयबद्ध वादन, नियंत्रित शाब्दिक अभिव्यक्ति, धूम धड़ाका संगीत तैयार करता है। शो के बाद, कलाकार भिक्षा मांगता है।

बहरूपी

इसका शाब्दिक अर्थ है भेष बदलने वाले जो गर्भवती महिलाओं, युवा माताओं, आदि का रूप धारण करके स्वांग करते हैं। वे बहिरोबा, खंडोबा, जाखई और जनाई जैसे पंथ देवताओं के भक्त हैं और उनके गीत, कविताओं और तुकबंदी से भरे हुए हैं, शादी के लिए वे एक विनोदी निमंत्रण हैं। जैसा कि यह रूप अभिनय की ओर प्रवृत्त होता है, सस्वर पाठ की सजीव, दिलचस्प रफ्तार है। इसमें कोई वाद्ययंत्र नहीं लगाया जाता है।

धनगरी ओवया

यह गति-उन्मुख गीत चरवाहों (धनगड़) से जुड़ा हुआ है और भगवान शिव के अवतार बिरुबा पर केन्द्रित है। *धनगड़*, रंग-बिरंगे पहनावे में, एक विशाल *ढोल* बजाने वालों के चारों ओर जोरदार नृत्य करते हैं। पूर्णतः प्रभावशाली लय, जोरदार छंद के साथ समाप्ति और जोरदार आवाज की परिकल्पना इस प्रदर्शन का एक हिस्सा है, जो आमतौर पर घर के बाहर किया जाता है।

वासुदेव गीत

अभिनेता वासुदेव, भगवान कृष्ण का एक अवतार है, जैसा कि मोर पंखी शिरो वस्त्र और बांसुरी से स्पष्ट है। घुंघरू (टखने की घंटियां) और हाथ में पकड़ी हुई *मॉंजिरी* (झांझ) बांसुरी या गायन के साथ सुर मिलाती है। वासुदेव स्वयं गाते हैं और कुशल, रुचिकर नृत्य पद और शरीर के चक्कारदार थिरकने को अंजाम देते हैं।

वाघ्य-मुरली गीत

गीत *गोंधल* अनुष्ठान संबंधी थियेटर की एक उप विविधता है। हालांकि, नारी-सुलभ तत्व गुणात्मक रूप से अपने सौंदर्य अभिविन्यास में मूल शैली से भिन्न होते हैं। *वाघ्य* और *मुरली* क्रमशः खंडोबा के पुरुष और महिला भक्त हैं। *मुरली* मुख्य नर्तक है और *वाघ्य* संगत देने वाला है, जो *जागरण* (जागते रहो) के रूप में जाने जाने वाले नाटक में भाग लेता है। *मुरली* की आकर्षक वेशभूषा और उनकी हरकतों में भावमय लावण्य से इस प्रदर्शन में फर्क महसूस किया जा सकता है। उनके आंदोलनों की कामुक कृपा से प्रतिष्ठित है। इसमें केवल *दुनदयुन* (एक स्ट्रिंग वाला ताल और ड्रोन कॉर्डोफोन), *घुंघरू* और *घोल* (एक छोटी घंटी) इस्तेमाल किए जाते हैं।

भक्ति संगीत

भक्ति संगीत ने अपनी गुणवत्ता और पहुंच के माध्यम से सभी क्षेत्रों में संगीत में बहुत योगदान दिया है। सबसे पहले, यह गाने के रूपों जैसे भजन, प्रवचन और गायन के साथ-साथ एकल और गायन मंडली संबंधित रूप में विभिन्न मोड की खोज करता है, और दूसरा इसमें वाद्य यंत्रों को विवेकपूर्ण तरीके से प्रयोग में लाया जाता है। *एकतारी* (एक तार वाला ड्रोन) मधुर सहयोग प्रदान करता है, जबकि मृदंग (दोतरफा क्षैतिज ड्रम), ताल (झांझ), *चिपलिया* (घंटे का लटकन) लय का ख्याल रखते हैं। ताल के लिए सामान्यतः चार और आठ के चक्रों का उपयोग किया जाता है। *भजन, कीर्तन, संकीर्तन* या *गायन* जैसे प्रारूप विभिन्न संयोजनों में विकसित हुए हैं। इसके अलावा, *धवले, अभंग, गोलन, भरूड़, स्तोत्र, आरती, श्लोक, अवी, करुणाष्टक, फटका, कतव* और *विरानी* सहित रूपों की एक पूरी श्रृंखला विकसित की गई है। विभिन्न धार्मिक गतिविधियां (सम्प्रदाय), जैसे कि समर्थ, दत्ता, वारकरी और अन्य को श्रेणी के वर्णक्रम में आगे जोड़ा है। अकेले महाराष्ट्र में *कीर्तन* की लगभग आठ किस्में हैं।

रणमाले-गोवा
कार्य क्षेत्र : कला का प्रदर्शन

रणमाले भारत के लोकप्रिय महाकाव्य रामायण और महाभारत की पौराणिक कहानियों पर आधारित विधि विधान को मानने वाला और लोक रंगमंच है। इसे होली के त्योहार के दौरान प्रस्तुत किया जाता है जिसे गोवा और कोंकण क्षेत्रों में शिगमो (वसंत ऋतु के त्योहार) के रूप में मनाया जाता है। 'रणमाले' शब्द दो शब्दों से बना है, 'रण' का अर्थ है लड़ाई और 'माले' कला के प्रदर्शन के दौरान प्रकाश स्रोत के रूप में इस्तेमाल की जाने वाली पारंपरिक मशाल है। रणमाले कला का प्रदर्शन पश्चिमी भारत में उत्तरी गोवा जिले के सतारी तालुक और दक्षिण गोवा जिले के सनग्वेम तालुक में किया जाता है। यह महाराष्ट्र के सीमावर्ती गांवों जैसे मांगेली, पाट्ये और कर्नाटक में चिखाले, कणकुंबी, परवाड़, गवली, डीगाओ गांवों में भी प्रचलित है। इस शैली में नृत्य, नाटक और जाट नाम के लोक गीत शामिल हैं। नाटक का प्रत्येक प्रतिभागी लोक गीतों की धुन पर प्रवेश करता है। परंपरागत वाद्ययंत्र, घूमत एक मिट्टी के बरतन का ढोल है जिसका एक छोर मॉनिटर छिपकली की त्वचा से ढका होता है और दूसरा मुंह खुला रहता है। शुरुआती ताल के लिए कंसले, पीतल के झांझ के साथ वाद्य यंत्रों का उपयोग किया जाता है। लोक नाटक के सर्जक जिसे सूत्रधार भी कहा जाता है, जाट नामक गीत गाया जाता है, जबकि लोक कलाकार पृष्ठभूमि में मंच पर पंक्ति में खड़े होते हैं। जरमे के गांव में, रणमाले की प्रस्तुति चोरोत्सव के वार्षिक उत्सव के बाद होनी चाहिए, जबकि केरनज़ोले में यह त्योहारों से पहले मनाया जाता है। लोकप्रिय धारणा यह है कि मूलतत्व का प्रदर्शन नहीं होने से ग्राम देवता क्रोधित हो सकते हैं।

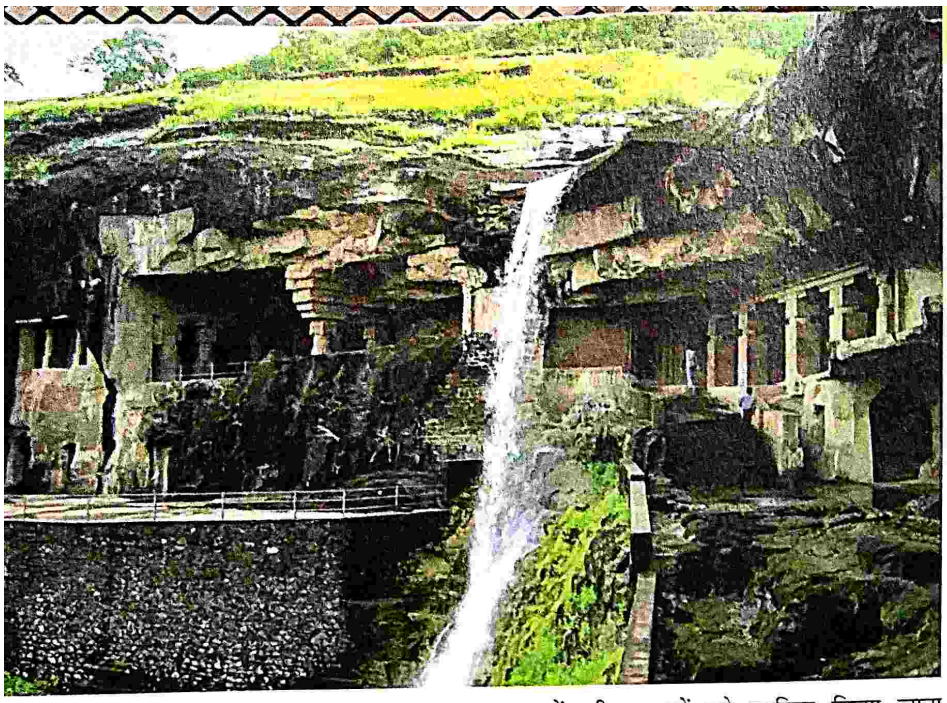

लोक नृत्य

नृत्य किसी भी अनुष्ठान का महत्वपूर्ण हिस्सा है, केवल विविध पद्धतियां शायद ही कभी निर्धारित या परिभाषित होती है, बल्कि विशेष कर के एक अस्थिर व्यवस्था है।

आनुष्ठानिक नृत्य शैली

आनुष्ठानिक नृत्य शैली वाघ्य-मुरली के खंडोबा *जागरण* में गोंडलियों के अम्बा, भवानी, रेणुका, गोंधल के साथ देखा जा सकता है। वाद्य-मुरली जागरण के साथ कर्मकांडों का लोक मंचन करते हैं। नृत्य के माध्यम से प्रतिभागी भगवान खंडोबा और देवी रेणुकादेवी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं। शरीर को हिलाने-डुलाने के साथ कुछ विशिष्ट पद-चाप होते हैं। चूंकि वे एक हाथ में *घाती* (एक वाद्य जैसा एक झांझ) रखते हैं, इसलिए उनके हाथ का हिलना प्रतिबंधित होता है।

इसी तरह *गोंधल* में, *गोंधली* (पुरुष कलाकार) संबल की धुनों पर उन्मुक्त होकर नाचता है और साथ ही *गोंधल* गीत भी गाता है जिनकी प्रकृति भक्तिमय हैं। इस प्रदर्शन में, छोटी छलांग और गोलाकार हरकतें जो *गोंधली* करते हैं, वह पूर्व नियोजित नहीं बल्कि स्वत: होती हैं।

भक्ति नृत्य रूप

भरुद और *कीर्तन* सहज होने वाले भक्ति नृत्य शैलियां हैं। भरुद में, भरुड़कार (कलाकार) आरंभिक पंक्ति गाता है, फिर एक आध्यात्मिक संदेश देने का उपदेश देता है, और बीच-बीच में नृत्य करने लगता है। नृत्य के हाव-भाव सहज होते हैं, जिसमें हाथों की हरकतों को शामिल किया जाता है और *पखावज* (एक तरह का ढोल) और झांझ की ताल पर सभी थिरकते हैं। पंढरपुर तीर्थयात्रा के दौरान *वरकारी कीर्तन* या *डिंडी* नृत्य किया जाता है। नृत्य कोरियोग्राफ नहीं किया जाता है, लेकिन भगवान विट्ठल के आराध्य भक्त बिना तैयारी के *वरकारी* (तीर्थयात्रियों) के साथ मगन हो जाते हैं। आमतौर पर प्रतिभागी एक-दूसरे का सामना करने वाली दो पंक्तियों में आते हैं। *मृदंग* और *वीणा* वादक, पंक्तियों के बीच नृत्य का नेतृत्व करते हैं। अन्य भक्ति लोक नृत्य के रूप हैं *फुगड़ी, जिम्मा, पिंगा, अत्यतपत्य, लगोरी* और *चेंदुफली*।

बोहाड़ा जिसे *पंचमी, अखाड़ी, चैती* के नाम से भी जाना जाता है, पौराणिक कहानियों से जुड़ा एक नृत्य नाटक है। यह ठाणे, पालघर, नासिक और नगर जिलों के आदिवासी क्षेत्र में लोकप्रिय है। *रामायण, महाभारत, ललित* और *दशावतार* की कथाएं सभी रंगपटल का हिस्सा बनती हैं। इन्हें गांवों के वार्षिक उत्सव के दौरान *ग्रामोत्सव* के रूप में जाना जाता है। गणपति, रिद्धि, सिद्धि, सरस्वती जैसे दिव्य पात्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले नर्तक पहले *बोहदा* के पवित्र स्थान पर प्रवेश करते हैं और इसके बाद राम, लक्ष्मण, रावण, हनुमान, त्रतिका, भस्मासुर, भैरवनाथ और खंडोबा जैसे पात्र आते हैं। पात्र संभ्रांत योद्धा नृत्य करते हैं। अभिनेता एक साथ बजाए जा रहे वाद्य यंत्रों जैसे *ढोल, सनाई, मंझिरी, संबल* के साथ चरम सीमा तक पहुंचता है।

सामाजिक जागरूकता नृत्य शैलियां

विभिन्न नृत्य शैलियां हैं जो सामाजिक संदेश देने का महान कार्य करती हैं। उनमें छत्रपति शिवाजी महाराज के समय से ही किया जाने वाला लोकप्रिय *पोवाड़ा* (गाथा गीत) है। *पोवाड़ा* में एक *वीर रस* (साहसी भावना) अंतर्निहित है और छत्रपति शिवाजी महाराज और अन्य बहादुर योद्धाओं की कहानियों को सफलतापूर्वक सुनाता है। यह सामाजिक सिद्धांतों के प्रचार और विभिन्न स्तरों पर सामाजिक संदेशों को सुनाने के लिए प्रसिद्ध है। एक *पावड़े* में अनिवार्य रूप से *शाहिर* (भाट) होते हैं जो नृत्य शैलियों के साथ गूंथी गई कहानियों पर अभिनय करते हैं। हालांकि यह नृत्य का पूर्ण रूप नहीं हो सकता है, अभिनय के दौरान नाटक के भाव का उपयोग किया जाता है जिसमें कलाकार

चेहरे के भाव और शरीर की भाषा के माध्यम से विभिन्न पात्रों का अभिनय करता है। गाथागीत गायक अक्सर डाफ (डफली) का उपयोग करते हैं और मान लेता है कि विशिष्ट मुद्रा जिसमें व्यक्ति बाएं पैर के सामने दाहिने पैर को रखता है, और वे अपने पैरों पर कूदते रहते हैं जबकि वे नायक के विजयी क्षणों का सजीव वर्णन करते हैं।

मनोरंजक नृत्य शैली

लावणी गायन, अभिनय और नृत्य का सौंदर्यबोध विषयक मिश्रण है, और महाराष्ट्र की सबसे लोकप्रिय लोक नृत्य शैलियों में से एक है। सुंदर नौ-गज की साड़ियां पहने, मुख्य नर्तकी, महिलाओं की अपनी मंडली के साथ, भावमय और स्टाइलिश चाल चलती है। घुंघरू (पायल की घंटियां) उनके पैरों के चारों ओर खनखनाते हैं, वे चेहरे पर सुंदर भावों के साथ नृत्य करती हैं। तमाशा *शृंगार रस* (रोमांचकता) से परिपूर्ण है। तमाशा दो प्रकार के होते हैं, *ढोलकी फड़च्छा तमाशा* और *संगीत बारिचा तमाशा*। इन दोनों रूपों में *लावणी* का प्रदर्शन किया जाता है।

लावणी की अन्य शैलियां हैं जो विशेषतया भक्तिपूर्ण और गीत गाथा हैं। इनमें, सामाजिक परंपराओं और मान्यताओं का एक साथ यौन-शिक्षा और विवाह-संबंधी रीति-रिवाजों के साथ वर्णन किया जाता है। एक शैक्षणिक सम्पर्क प्रदान करने की इस प्रक्रिया में, महिलाओं और पुरुषों की भावनाओं के विभिन्न मतों के साथ स्त्री सौंदर्य, कपड़ों, गहनों के विभिन्न रंगों को भी *लावणी* में दर्शाया जाता है। *लावणी* गायकों और नर्तकियों की उत्कृष्टता ने इस लोक कला को न केवल राष्ट्रीय स्तर पर, बल्कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी पहुंचाया है।

मिश्रित लोक नृत्य शैलियां

महाराष्ट्र के रायगढ़ और रत्नागिरी जिलों में *नमन, खेले* और *बाल्या नृत्य* (जाखड़ी) प्रमुख लोक शैलियां हैं। *नमन* और *खेले* विशुद्ध रूप से नाटकीय शैलियां हैं, जो होली के मौसम में किए जाते हैं जबकि *जाखड़ी* (जिसे *बल्या* नृत्य भी कहा जाता है) गणेश उत्सव के दौरान किया जाता है। कलाकार कला प्रेमी हैं और अपने बाएं पैर में घुंघरू पहनते हैं। *ढोलकी, ताल* और घुंघरू जो एक छड़ी से बंधे होते हैं, *जाखड़ी* में इस्तेमाल किए जाने वाले वाद्य हैं। नृत्य एक गोलाकार रूप में किया जाता है। वाद्य बजाने वाले घेरे के बीचोंबीच रहते हैं और अन्य प्रतिभागी घेरे के बाहर नृत्य करते हैं। कुछ पौराणिक कथाओं-गीतों को नृत्य के दौरान उसी स्वरूप में *जाखड़ी* के साथ प्रस्तुत किया जाता है। *नमन-खेले* में भी, दिव्य व्यक्तियों और अन्य पौराणिक पात्रों को पेश किया जाता है। अन्य नृत्य रूप जो ठाणे और पालघर जिलों में लोकप्रिय हैं, *कलयाची फुगड़ी, तिक्की, चपई, राधा* और *गौरी* हैं।

सिंधुदुर्ग जिले में, सावंतवाड़ी तहसील में; चरवाहा समुदाय का चपई नृत्य लोकप्रिय है। यह पश्चिमी महाराष्ट्र के *गज* नृत्य से मिलता-जुलता है। ढोल, कैथल और *सनाई* जैसे संगीत वाद्ययंत्र क्रमशः चपई और गजनृत्यों में प्रयोग में लाए जाते हैं। ये नृत्य चरवाहों *बिरोबा* और *जोतिबा* के कुल-देवताओं की प्रतिष्ठा में किए जाते हैं। प्रतिभागी अलग-अलग नृत्य रूप तैयार करते हैं, जिसमें एक हाथ में एक रूमाल लिए हुए गोलाकार घूमते हैं। इसके अलावा *लेझिम* और *गोफ* लोकप्रिय हैं। गोफ पुणे में जुन्नार तहसील के ठक्कर आदिवासियों का पसंदीदा नृत्य है।

कोली नृत्य मछली पकड़ने के समुदाय (कोलिस) का नृत्य है। यह उत्सव के दिनों और विवाह के अवसरों पर किया जाता है। पुरुष और महिलाएं मिलकर देवताओं को आमंत्रित करती हैं। वे *ढोल, पीपनी, सनाई* और *घूमत* के संगीत पर नृत्य करते हैं। विदर्भ में, खादी-गम्मट लोक नृत्य केवल पुरुषों द्वारा किया जाता है। आदिवासी समुदायों में लोकप्रिय *घुसाड़ी, टिपरी, घोरपड़, होली* और *बंजारा* नृत्य हैं। महिलाएं *नागपंचमी* के दौरान अपने रिश्तेदारों और दोस्तों के साथ *मंगलगौर* और लोक नाटकों का प्रदर्शन करती हैं।

महाराष्ट्र की कला और संस्कृति में विविधता है, हृदय में समानता है, और यह लोगों को एक-दूसरे के करीब लाने के लिए सामुदायिक बंधन को मजबूत करता है। जो भी युग रहा हो, इसने दुनिया भर के कलाकारों को हमेशा प्रेरित किया है और भविष्य की पीढ़ियों को प्रेरणा देता रहेगा। ■

विविधता में एकता की शक्ति

अशोक कलारिया

गुजरात में परंपराओं, रीति-रिवाजों, कलाओं, मान्यताओं और मूल्यों का ऐसा मिश्रण है जिसने काफी समय पूर्व, यहां तक कि राज्य की सीमाओं को चिह्नित किए जाने की तारीख से भी पहले अपने प्रामाणिक अवतार को अंगीकार कर लिया था और रूपांतरण के लिए आधुनिकता का जामा पहन लिया था। इसी की बदौलत इसकी विविध संस्कृति ने समुदायों, जातीय समूहों और गुजरात के प्रति अपने प्यार की ताकत से विविध धर्मों के लोगों को एकजुट रखते हुए विश्व भर में लोकप्रियता हासिल की।

गुजरात की संस्कृति को अपनी आंखों, कानों और सभी इंद्रियों के साथ अनुभव किए बिना इसके बारे में क्या कहा जा सकता है। *गरबा* की मंत्रमुग्ध कर देने वाली धुनों और *ढोल* की मनमोहक ध्वनियों को सुने बिना क्या कहा जा सकता है? कच्छी कढ़ाई और पटोला साड़ियों जैसे पारंपरिक हस्तशिल्प के बिना क्या कोई चित्र चित्रित किया जा सकता है? अन्य सभी पकवानों के साथ गरमागरम और मसालेदार *वाग्लेर अमरचा* (तली हुई हरी मिर्च) या *केरी नू अथानू* (कच्चे आम का अचार) का लुत्फ उठाए बिना किसी स्वाद का बखान किया जा सकता है? राज्य के सभी क्षेत्रों में कई अनूठे मेलों और त्योहारों का आनंद लिए बिना गुजरात की संस्कृति का वर्णन कैसे किया जा सकता है। इसकी वह विशेषता जिसका उल्लेख हम अत्यंत खुशी और गर्व के साथ कर सकते हैं, वह है यहां की समृद्ध और विविधतापूर्ण संस्कृति के बावजूद एकीकरण की भावना जिसकी बयार समूचे गुजरात में बहती है।

इस संस्कृति का मूलतत्व राज्य के निवासियों में निहित है, जो इसे इसके वर्तमान स्वरूप में जीवंत बनाते हैं। आप गुजरात में रहने वाले लोगों को एक सामूहिक जनसमूह गुजराती के रूप में सोच सकते हैं। जब आप यहां की संस्कृति में गहराई से उतरते हैं, तो पाते हैं कि यहां की आबादी कितनी समृद्ध और विविध है। हिंदू, जैन, पारसी, मुस्लिम और कई अन्य जातीय समूहों के लोग गुजरात को अपना घर कहते हैं और वे न केवल इस सुंदर संस्कृति का हिस्सा होने का आनंद लेते हैं बल्कि इसे खुद की अनूठी पहचान देकर इसकी समृद्ध विरासत में योगदान भी देते हैं।

700 साल से अधिक पुरानी भाषा, गुजराती, गुजरात के शहरों, कस्बों, गांवों और हर कोने में 60 मिलियन से अधिक लोगों द्वारा बोली जाती है। हालांकि, सूरत से अहमदाबाद, भावनगर से भुज तक शब्दावली, उच्चारण और संकेतन बदलते हैं, जो इन क्षेत्रों में से प्रत्येक की विविध बोलियों और अनूठी संस्कृति को दर्शाते हैं। राज्य भर में बोली जाने वाली भाषा की विभिन्न बोलियों में, मानक गुजराती, सौराष्ट्र गुजराती, गमडिया गुजराती, काठियावारी, पारसी, बोहरी और कच्छी कुछ ऐसी हैं, जो आपको विशिष्ट रूप से प्रभावित करेंगी, लेकिन जब वे कहते हैं, मारू गुजरात

(मेरा गुजरात) तो सभी का मतलब एक ही होता है - देशभक्ति और अपनी मातृभूमि के लिए प्यार जो उनकी सबसे बड़ी शक्ति है।

भाषा के साथ-साथ, नरसिंह मेहता, अखो, प्रेमानंद, शामल भट्ट, दयाराम, दलपतराम, नर्मद, गोवर्धनराम त्रिपाठी, के.एम. मुंशी, उमाशंकर जोशी और पन्नालाल पटेल जैसे प्रसिद्ध साहित्यकारों की रचनाएं गुजराती साहित्य को समृद्ध बनाती हैं। 1000 ईस्वी पूर्व की साहित्यिक परंपरा में उनके योगदान के साथ कोई भी, राज्य की संस्कृति के मूल तत्वों को रचने वाली धार्मिक मान्यताओं, दार्शनिक प्रवचनों और आध्यात्मिक ज्ञान की एक झलक का अनुभव कर सकता है। उल्लेखनीय कवियों-कलपी और कवि कांत भी ऐसे नाम हैं जिन्होंने राज्य के इतिहास और संस्कृति पर अपनी छाप छोड़ी है। आधुनिक समय के लेखकों जैसे सुरेश दलाल, विनोद जोशी, गुणवंत शाह, जोरावर सिंह जादव ने भी गुजराती साहित्य के गौरव को जीवित रखा है और गुजराती भाषा की महिमा के गुणगान में उल्लेखनीय योगदान दिया है, जो संस्कृति के प्रति उनके प्रेम को दर्शाता है।

कोई भी भाषा उसी प्रकार प्रभावशाली होती है जिस तरह संगीत में शब्द। एक सार्वभौमिक भाषा जिसे किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता है, लेकिन वह क्षेत्र की जिस संस्कृति को दर्शाती है, वह गुजरात का लोकप्रिय संगीत है जिसने न केवल राज्य बल्कि भारत की संस्कृति की वैश्विक ख्याति में योगदान दिया है। संगीत की मूल प्रकृति से- खंबावती, गुजरी तोड़ी बिलावल, सोरठी, लती और अहिरी जैसे कई राग गुजरात के

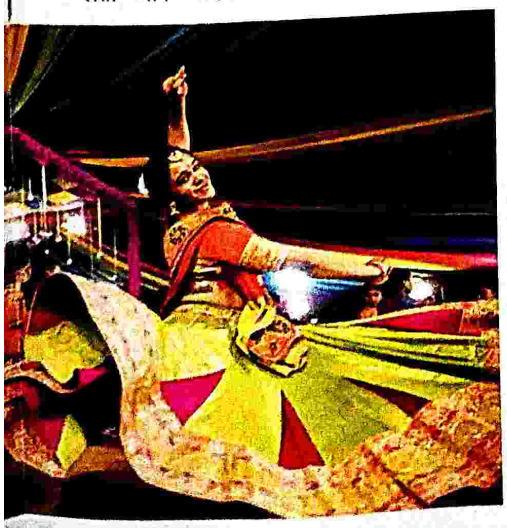

भाषा के साथ-साथ, नरसिंह मेहता, अखो, प्रेमानंद, शामल भट्ट, दयाराम, दलपतराम, नर्मद, गोवर्धनराम त्रिपाठी, के.एम. मुंशी, उमाशंकर जोशी और पन्नालाल पटेल जैसे प्रसिद्ध साहित्यकारों की रचनाएं गुजराती साहित्य को समृद्ध बनाती हैं। 1000 ईस्वी पूर्व की साहित्यिक परंपरा में उनके योगदान के साथ कोई भी, राज्य की संस्कृति के मूल तत्वों को रचने वाली धार्मिक मान्यताओं, दार्शनिक प्रवचनों और आध्यात्मिक ज्ञान की एक झलक का अनुभव कर सकता है।

विभिन्न क्षेत्रों से निकले हैं। गुजरात को बैजू बावरा और ताना रिरी जैसे दिग्गज संगीतकारों की मातृभूमि होने का गौरव प्राप्त है, जिन्होंने इसकी शानदार विरासत में योगदान किया हैं। शास्त्रीय रूपों के अलावा, राज्य के लोक संगीत ने भी वैश्विक लोकप्रियता हासिल की है। हालांकि दुनिया भर में सबसे लोकप्रिय गरबा है, लेकिन यह राज्य में लोक संगीत का एकमात्र रूप नहीं है। अपने शुद्ध रूपों में चारन्स और गाधाविस का मधुर संगीत आज भी राज्य में बड़े पैमाने पर सुना जाता है, जो यह दर्शाता है कि यह एक कला रूप है, भली-भांति संरक्षित संस्कृति है, जो गर्व, जुनून और शुद्ध प्रेम की एक सार्वभौमिक भाषा है जो सबसे संवाद करती है।

गुजरात, जहां संगीत मंत्रमुग्ध कर रहा है, नृत्य रूप भी सम्मोहित कर रहे हैं और वहां के लोकप्रिय लोक नृत्य का जादुई आकर्षण भी सर्वविदित है। यह विस्मयकारी है कि गरबा और रास नृत्य करने के लिए राज्य की समूची आबादी एक समुदाय के रूप में शामिल होती है। नवरात्रि गुजरात के सबसे लोकप्रिय त्योहारों में से एक है। लगातार नौ रातों तक चलने वाले इस नृत्य पर्व का, दुनिया के सबसे लंबे नृत्य पर्व होने का रिकॉर्ड है।

गुजरात के लोग सांस्कृतिक रूप से अद्वितीय हैं, जो अपनी अनूठी कला, शिल्प और संगीत के साथ जीवन का आनंद लेते हैं। यही कारण है कि वहां हमेशा उत्सव का माहौल रहता है। न केवल नृत्य उत्सव, बल्कि पूरे राज्य में हर साल 100 से अधिक समारोह होते हैं, जिसके कारण गुजरात को मेलों और त्योहारों की भूमि के रूप में जाना जाता है। एक त्योहार जो गुजराती संस्कृति के रंगों को आसमान में बिखेरता है, उत्तरायण है, जिसे मकर संक्रांति के नाम से भी जाना जाता है, और जो पतंग उत्सव के रूप में लोकप्रिय है। विभिन्न रंगों, डिजाइनों और आकारों की पतंगों में राज्य की विविध आबादी का प्रतिबिंब आध्यात्मिक भावनाओं के सम्मिश्रण के साथ देखा जा सकता है। पिछले एक

लेखक वरिष्ठ आईएएस अधिकारी और गुजरात सरकार में सूचना निदेशक हैं। ईमेल: ashokkalaria@gmail.com

विविध परिदृश्य

राठवा नी घेरः राठवा का जनजातीय नृत्य

गुजरात राज्य के दक्षिणपूर्वी भाग के पहाड़ी क्षेत्र, राठ-विस्तार में रहने वाले राठवा, होली (रंगों का त्योहार) के अवसर पर राठवा नी घेर नृत्य करते हैं, जिसे कावंत पर्व के नाम से भी जाना जाता है। इसका नाम उस स्थान के नाम पर रखा गया है जहां होली उत्सव मनाया जाता है। घेर (संगीत के साथ नृत्य) का प्रदर्शन दुलेंडी पर शुरू होता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, रंगीन धूल उड़ाने का दिन। यह एक ऐसा दिन है जब लोग एक-दूसरे को रंग में नहलाते हैं। यह उत्सव पांच दिनों तक चलता है, जिसके दौरान राठवा उपवास करते हैं और खाट पर सोने, कपड़े धोने तथा स्नान करने से परहेज करते हैं। पुरुष और महिलाएं दोनों एक साथ 20 से 25 के समूहों में, घेर नृत्य करते हैं। विभिन्न अवसरों पर किए जाने वाले सभी राठवा नृत्यों का संबंध, ऋतुओं के चक्र से होता है। जटिल मेकअप, सधे कदम, ओजपूर्ण अदाएं और स्वदेशी संगीत वाद्ययंत्रों के माध्यम से मंत्रमुग्ध करने वाला स्वर संगम दर्शाता है कि यह नृत्य शैली कितनी अनोखी और परिष्कृत है, जो राठवा की धार्मिकता, सांस्कृतिक पहचान और प्रकृति की समझ की अभिव्यक्ति करती है।

दशक में, रानोत्सव वैश्विक प्रसिद्धि के साथ गुजरात का सबसे अधिक आकर्षक मेला बन गया है, जिसमें स्थानीय लोग अपनी संस्कृति के सबसे रंगीन और जीवंत पहलुओं का जश्न मनाते हैं । दुनिया भर से पर्यटक इस मेले का आनंद उठाने आते हैं।

सफेद रेत के रेगिस्तान में बने इस तम्बू शहर में रहना, स्थानीय व्यंजनों का आनंद लेना, लोक नृत्य और संगीत का लुत्फ उठाना, उस मेले का हिस्सा हैं जो हर सर्दियों में कच्छ के रण में आयोजित किया जाता है। तरनेतार मेला राज्य के सबसे बड़े मेलों में से एक है। यह ग्रामीण खेलों और सबसे शानदार मानव पिरामिड संरचनाओं के प्रदर्शन के लिए बहुत लोकप्रिय है जिसमें भाग लेने वाले प्रतियोगी पूरे वर्ष तैयारी करते हैं। यह व्यापार मेला राज्य की ग्रामीण संस्कृति को दर्शाता है। गुजरात हर साल संस्कृति कुंज मेले का आयोजन कर अन्य राज्यों की मेजबानी भी करता है, जहां देश भर से शिल्पी और कलाकार अपनी अनूठी परंपराओं का प्रदर्शन करते हैं, जिससे गुजरात वास्तव में ऐसी संस्कृति बन जाता है जो विविधता को संस्कृति की सम्मिलित शक्ति के रूप में अंगीकार करता है।

जब उत्सव का समय होता है, तो सबसे जीवंत और रंगीन पोशाकें धारण करने का अवसर भी होता है। गुजरात हाथ से तैयार किए गए पटोला रेशम के लिए लोकप्रिय है, इस शिल्प में पाटन के कुछ बुनकर परिवार लगे हैं। इसकी विशिष्टता से सभी परिचित हैं, जिससे पता चलता है कि इसकी काफी मांग है । इसे गायकवाड़ रानी ने भी सुशोभित किया था, जैसा कि उस समय के लोकप्रिय चित्रों और चित्रों में देखा गया था। आज, जबकि यह सब जगह उपलब्ध नहीं है, फिर भी दुनिया भर में पटोला की लोकप्रियता में वृद्धि हुई है। यह भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के निर्माण के लिए एक साथ बुने गए धागों में से एक बन गया है।

भारी कशीदाकारी और शीशे तथा हल्के आभूषण से सजी चनिया चोली और केडियास, उत्सवों में पहने जाने वाले पहनावे हैं जिन्हें गुजरातियों को केवल उत्सव के

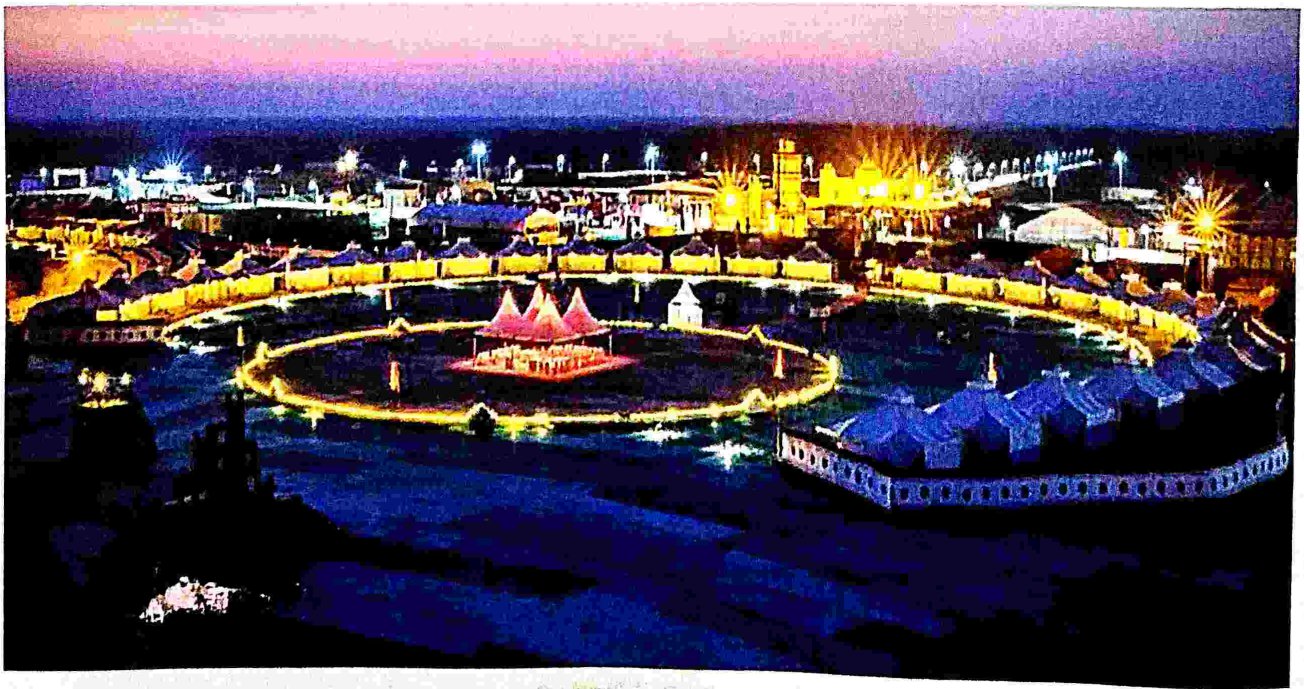

तरनेतार मेला राज्य के सबसे बड़े मेलों में से एक है। यह ग्रामीण खेलों और सबसे शानदार मानव पिरामिड संरचनाओं के प्रदर्शन के लिए बहुत लोकप्रिय है जिसमें भाग लेने वाले प्रतियोगी पूरे वर्ष तैयारी करते हैं। यह व्यापार मेला राज्य की ग्रामीण संस्कृति को दर्शाता है। गुजरात हर साल संस्कृति कुंज मेले का आयोजन कर अन्य राज्यों की मेजबानी भी करता है, जहां देश भर से शिल्पी और कलाकार अपनी अनूठी परंपराओं का प्रदर्शन करते हैं, जिससे गुजरात वास्तव में ऐसी संस्कृति बन जाता है जो विविधता को संस्कृति की सम्मिलित शक्ति के रूप में अंगीकार करता है।

दौरान नहीं बल्कि अन्य दिनों में भी पहने देखा जा सकता है।

उत्सव और मेले का आनंद, स्वादिष्ट और मुंह में पानी लाने वाले पकवानों के बिना पूरा नहीं होता और यदि कोई किसी गुजराती के घर गया है तो वहां के खानपान और गर्मजोशी से किए जाने वाले आतिथ्य के बारे में वही आपको बता सकता है। गुजरात में आतिथ्य की लाजवाब संस्कृति है, यहां तक कि घर में पकाया गया साधारण-सा भोजन भी शाही दावत की तरह परोसा जाता है। गुजराती आतिथ्य के बारे में एक प्रचलित कहावत है कि किसी को अपने को पेटभरा घोषित करने से पहले भी पर्याप्त भूख रखनी चाहिए, क्योंकि उसे खाने का आग्रह तो किया ही जाएगा और जब अनोखे व्यंजन परोसे जाएंगे तो उन्हें खाने से कोई इंकार भी कैसे कर सकेगा। गुजरात के व्यंजन भी, यहां की विविध संस्कृति और इतिहास के द्योतक हैं।

अतीत में महाराष्ट्र और मेवाड़ के साथ सीमाओं और परंपराओं को साझा करने वाले इस राज्य की, आधुनिक समय में दक्षिणी और उत्तरी सीमाओं के आसपास के क्षेत्रों में रुचियों में भी समानता है। कृषि की दृष्टि से समृद्ध, राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में स्थानीय लोगों द्वारा बनाए जाने वाले व्यंजनों में इस्तेमाल किए जाने वाले अनूठे अनाज उगाए जाते हैं। राज्य का उत्तरी क्षेत्र मक्का की खेती के लिए जाना जाता है, सौराष्ट्र में *बाजरे* की खेती प्रचुर मात्रा में की जाती है, दक्षिण गुजरात *ज्वार* की खेती के लिए जाना जाता है। इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में उगाई जाने वाली फसलों का संबंध स्थानीय लोगों के मुख्य आहार से है। भंडारण और परिवहन क्षेत्र में हुई प्रगति के साथ, अब पूरे राज्य में विभिन्न प्रकार के अनाज और मौसमी उत्पाद गुजराती थाली के लिए उपलब्ध होने लगे हैं।

गुजरात में आप उस विविध संस्कृति का अनुभव कर सकते हैं, जिसकी प्राचीन जड़ें संरक्षित हैं और इसके आधुनिक अवतार ने समुदायों, जातीय समूहों और मातृभूमि-गुजरात के प्रति अपने प्यार की ताकत से विविध धर्मों के लोगों को एकजुट रखा है। ■

विविध परिदृश्य

सांखेड़ा नू लाख कामः रोगन किया हुआ, सांखेड़ा की लकड़ी का फर्नीचर

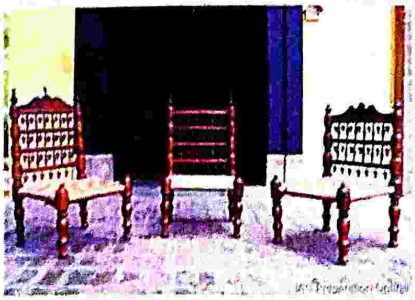

गुजरात के पूर्वी क्षेत्र का एक छोटा-सा शहर, सांखेड़ा, जिसका नाम चलयंत्र के लिए गुजराती भाषा के संघेदु शब्द से निकला है। इस शहर में लगभग 80-100 परिवार हैं, जो खराड़ी-सुथार समुदाय से हैं, जिनकी पहचान लकड़ी की वस्तुएं बनाने वालों की है। हाथ से पेंट किए गए रूपांकनों और अलंकरण की पारंपरिक विधि के साथ लकड़ी का फर्नीचर, जिसे संखेडा फर्नीचर के रूप में जाना जाता है, के बारे में माना जाता है कि इसे लगभग 1855 से शहर में बनाया जाता रहा है। चूंकि सांखेड़ा शहर के अधिकांश शिल्पकार इस शिल्प से जुड़े हैं, यह उन्हें सामुदायिक पहचान और निरंतरता का एक मजबूत एहसास देता है। उत्पाद की अलंकृत प्रकृति खुद को अभिव्यक्ति का एक दृश्य प्रतीक बनाती है जिसे गुजराती के रूप में पहचाना जाता है। बच्चों के पालने तथा वाकर, कुर्सी-मेज और बड़े-बड़े झूलों सहित फर्नीचर उत्पादों की एक विस्तृत शृंखला उष्णकटिबंधीय और नम जलवायु की अद्वितीय अनुक्रिया है।

मोटे अनाज की संस्कृतिः एक अवलोकन

पल्लवी उपाध्याय

भारत ने अपने भोजन और खाने की आदतों में समृद्ध विविधता पाई है। मौसम मिट्टी और संस्कृति की विविधत भी अनाज और धान्य की विविधता को दर्शाती है जो देश की लंबाई और चौड़ाई में उगाए गए थे। बाजरा छोटे बीज वाली घासों का एक समूह है जिसका उपयोग अनाज के रूप में किया जाता है। भारतीय उपमहाद्वीप में उन्हें उगाने की समृद्ध विरासत रही है और हाल ही में जब तक बाजरा हमारे भोजन की टोकरी का एक बहुत बड़ा हिस्सा बन गए।

मोटे अनाज और भारतीय उप-महाद्वीप

पिछले कुछ वर्षों से मोटे अनाज तेजी से लोकप्रिय हो रहे हैं और पुनर्प्रचलन की कगार पर हैं। भारत सरकार ने इन्हें अप्रैल 2018 में 'पोषक-अनाज' के रूप में अधिसूचित किया है। व्यापक रूप से इस मान्यता के हकदार रहे मोटे अनाजों को ऐसे समय में इतना महत्व दिया गया है जब कृषि जलवायु परिवर्तन से प्रभावित हो रही है और देश में पोषण की स्थिति और तेजी से बदलती जीवनशैली संबंधी बीमारियों के मद्देनजर इन परंपरागत खाद्यान्नों का प्रचलन आवश्यक हो गया है।

कुछ मोटे अनाज 2000-3000 से अधिक वर्षों से उगाए जा रहे हैं और हम अपने सांस्कृतिक तथा धार्मिक रीति-रिवाजों, गीतों और ग्रंथों में इनके संदर्भ पाते हैं।

अफसोस की बात है कि पिछले कुछ वर्षों में इनका उत्पादन बढ़ाने पर बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। वास्तव में पिछले 40-50 वर्षों में हमारी कृषि नीतियों ने मोटे अनाजों की कीमत पर गेहूं और चावल के उत्पादन को व्यवस्थित रूप से प्रोत्साहित किया है जिससे समय के साथ-साथ मोटे अनाजों का उत्पादन और इस्तेमाल काफी कम हो गया है। इसका एक प्रमुख कारण मोटे अनाजों की खेती के क्षेत्र में कमी होना है। आंकड़ों से पता चलता है कि पिछले कुछ वर्षों में इनकी खेती के क्षेत्र में भारी गिरावट आई है। वर्ष 1965-66 में यह लगभग 37 मिलियन हेक्टेयर था, जो 2016-17 में घटकर 14.72 मिलियन हेक्टेयर रह गया।[1]

मोटे अनाजों का सामाजिक-आर्थिक संदर्भ

मोटे अनाजों को गरीबों का भोजन माना जाता रहा है। ये ऐसे अनाज थे जिन्हें धान या गेहूं के विपरीत हर कोई उगा और खा सकता था। धान या गेहूं उगाने के लिए इनकी तुलना में अधिक उपजाऊ भूमि की आवश्यकता थी और सिंचाई तथा उनके फसल प्रबंधन पर भी अधिक ध्यान देने की जरूरत पडती थी। बारिश की स्थिति और क्षारीय मिट्टी के लिए भी मोटे अनाज की खेती आदर्श थी। परिणामस्वरूप ज्यादातर घरों में वे मुख्य अनाज के रूप में उपयोग किए जाते थे। लेकिन सामाजिक स्थिति बढ़ने के कारण अधिक परिष्कृत अनाज खाने की इच्छा, कुछ मोटे अनाजों की सफाई तथा छिलका उतारने की मेहनत से बचने और सार्वजनिक वितरण प्रणाली में गेहूं तथा चावल की सुगम उपलब्धता जैसी अनुकूल नीतियों की वजह से मोटे अनाजों के इस्तेमाल में कमी आई।

बर्नयार्ड मिलेट

लेखक सामाजिक उद्यम और ब्रांड-मिलेट्स फॉर हेल्थ की सह-संस्थापक हैं। ईमेलः pallavi.sakalanutrition@gmail.com

तालिका 1: विभिन्न भाषाओं में मोटे अनाजों का नाम

अंग्रेजी	हिंदी	तमिल	तेलुगू	कन्नड़
लिटिल मिलेट	कुटकी	समाइ	समालू	सेम
बरनयार्ड मिलेट	सानवा	कुथिरईवल्ली	उधलु	ओढालु
प्रोसो मिलेट	छेना	पाणि वरगु	वारिगा	बारगु
कोदो मिलेट	कोदो	वरगु	अरिकेलु	हारका
फॉक्सटेल मिलेट	कांगनी	तेनई	कोर्रा	नवाने
ब्राउनटॉप मिलेट	मकर	कोरले	अंडु कोरे	–
सोरघम	ज्वार	चोलम	जोन्ना	जोला
पर्ल मिलेट	बाजरा	कंबु	सज्जा	सज्जे
फिंगर मिलेट (रागी)	मंडुआ	कीपई	रगुलु	रागी

पारंपरिक रूप से हमारी खाद्य संस्कृति का हिस्सा रही आहार की विविधता में कमी का महिलाओं और बच्चों के पोषण पर काफी असर पड़ा। आहार विविधता और अनाज की एक विस्तृत शृंखला के उपयोग का मतलब पोषण विविधता था। सिर्फ गेहूं और चावल के इस्तेमाल पर जोर देने से भोजन में पोषण काफी हद तक कम हो गया।

हालांकि, हालिया रुझानों से पता चलता है कि मोटे अनाजों के प्रति नए सिरे से रुचि बढ़ रही हैं। कई लोग इनके बारे में प्रचार भी कर रहे है। सरकार की नीतियां भी इस नवीनीकरण को प्रतिबिंबित करने लगी हैं।

ओडिशा में मोटे अनाजों को सार्वजनिक वितरण प्रणाली में शामिल किया गया है और सरकार राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के तहत भी इन्हें बढ़ावा दे रही है। वास्तव में, भारत सरकार के आग्रह पर संयुक्त राष्ट्र के खाद्य और कृषि संगठन ने वर्ष 2023 को अंतरराष्ट्रीय मोटा अनाज वर्ष के रूप में घोषित करने के प्रस्ताव को मंजूरी दे दी है।

मोटे अनाज-स्वास्थ्य, किसानों और पर्यावरण के लिए फायदेमंद

मोटे अनाज के प्रति नए सिरे से रुचि कई कारणों से पैदा हो रही है। दुनिया भर में कृषि-जलवायु की बदलती रिवायत के कारण यह आवश्यक हो गया है कि मौजूदा कृषि नीतियों में बदलावा किया जाए।

जून 2018 में प्रकाशित एक अध्ययन में पाया गया है कि जलवायु परिवर्तन के कारण, आने वाले वर्षों में अनाज की विभिन्न फसलों की उत्पादकता में कमी आएगी। मोटे अनाज ही एकमात्र ऐसी फसलें हैं जो जलवायु परिवर्तन का सामना कर सकती हैं और इनकी उत्पादकता पर नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ेगा।[2]

उत्पादन में इस अपेक्षित कमी के साथ, खेती से आजीविका जोखिम में है, इसीलिए पोषण और आजीविका सुरक्षा दोनों चुनौतियों का सामना करने के लिए जलवायु की दृष्टि से सहनशील फसलें उगाना आवश्यक हो गया है। अंतरराष्ट्रीय फसल अर्द्ध-शुष्क उष्णकटिबंधीय अनुसंधान संस्थान के सहायक महानिदेशक और स्मार्ट फूड के कार्यकारी निदेशक, जोआना केन- पोटाका, कहते हैं - *जलवायु परिवर्तन से निपटने में मोटे अनाजों का दोहरा महत्व है क्योंकि वे अनुकूलन और शमन दोनों में योगदान करते हैं। मोटे अनाजों की फसलें अधिकांश फसलों की तुलना में बहुत अधिक तापमान को सहन कर सकती हैं और इन्हें बहुत कम पानी की आवश्यकता होती है (डेक्कन डेवलपमेंट सोसाइटी के अनुसार धान के लिए आवश्यक पानी का 1/4)। कुल मिलाकर इनका लचीलापन उन्हें जलवायु के अनुरूप बनाता है और किसान एक अच्छी अनुकूलन कृषि कार्यनीति अपना सकते है। इनकी खेती में कम से कम उर्वरकों और कीटनाशकों का उपयोग करना पड़ता है, इसलिए इनमें कम कार्बन फुटप्रिंट होता है। मोटे अनाज चावल की तुलना में जीएचजी को 2 प्रतिशत से 13 प्रतिशत तक कम करते है (डेविस, के. एट अल, 2019)। यह किसान और भूमि के लिए अच्छा होता है। इसके अलावा मोटे अनाजों का पोषण बढ़ाकर उन्हें अधिक स्वास्थ्यकारी बनाता है।*

मोटे अनाज अत्यधिक पौष्टिक होते हैं इसलिए इन्हें बढ़ावा देकर देश के पोषण संकट का समाधान किया जा सकता हैं। अंतरराष्ट्रीय फसल अर्द्ध-शुष्क उष्णकटिबंधीय अनुसंधान संस्थान द्वारा सितंबर 2019 में कर्नाटक में 1,500 बच्चों पर किये गये अध्ययन में पाया गया कि

रागी पुष्प गुच्छ

तालिका 2: गेहूं और चावल बनाम बाजरा का पोषण प्रोफाइल

अंग्रेजी	प्रोटीन	कार्बो हाइड्रेट (ग्राम में)	फैट (ग्राम में)	खनिज (ग्राम में)	फाइबर (ग्राम में)	कैल्शियम (मि.ग्रा. में)	फॉस्फोरस (मि.ग्रा. में)	आयरन (मि.ग्रा. में)	ऊर्जा (किलो कैलोरी में)	थियामिन (मि.ग्रा. में)	नियासिन (मि.ग्रा. में)
लिटिल मिलेट	7.7	67	4.7	1.7	7.6	17	220	9.3	329	0.3	3.2
बरनयार्ड मिलेट	6.2	65.5	4.8	3.7	13.6	22	280	18.6	300	0.33	4.2
प्रोसो मिलेट	12.5	70.4	1.1	1.9	5.2	8	206	2.9	354	0.41	4.5
कोदो मिलेट	8.3	65.9	1.4	2.6	5.2	35	188	1.7	353	0.15	2
फॉक्सटेल मिलेट	12.3	60.2	4.3	4	6.7	31	290	2.8	351	0.59	3.2
ब्राउनटॉप मिलेट	8.9	71.3	1.9	3.9	8.2	28	276	7.7	338		
सोरघम	10.4	70.7	3.1	1.2	2	25	222	5.4	329	0.38	4.3
पर्ल मिलेट	11.8	67	4.8	2.2	2.3	42	240	11	363	0.38	4.3
फिंगर मिलेट (रागी)	7.3	72	1.3	2.7	3.6	344	283	3.9	336	0.42	1.1
गेहूं	11.8	71.2	1.5	1.5	2	30	306	3.5	348	0.41	5.1
धान चावल	6.8	78.2	0.5	0.6	1	33	160	1.8	362	0.41	4.3

(www.millets.wordpress.com)

मोटे अनाज आधारित आहार का सेवन करने वाले बच्चों में वजन और ऊंचाई मापदंडों में 50 प्रतिशत तक वृद्धि हुई।[3] इस अध्ययन में पोषण संबंधी कमियों को दूर करने के लिए मोटे अनाजों की महत्वपूर्ण क्षमता पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है।

मधुमेह, उच्च रक्तचाप, पाचन विकार, एलर्जी और जीवनशैली से संबंधित कई अन्य रोगों के समाधान के रूप में भी मोटे अनाजों का उपयोग किया जाता है। मधुमेह से राहत की कई प्रेरक कहानियां हैं। इन चमत्कारिक खाद्य पदार्थों के सेवन के लाभों को स्वलीनता (ऑटिज़्म) और यहां तक कि कैंसर से स्वस्थ हुए लोगों ने भी महसूस किया है।

मोटे अनाजों का सांस्कृतिक महत्व

मोटे अनाजों का हमारी मेज से व्यवस्थित रूप से गायब ना होने और हमारी स्मृति में बने रहने का एक कारण इनकी सांस्कृतिक प्रासंगिकता है। कई रीति-रिवाज और अनुष्ठान हैं जिनके दौरान इनका सेवन अनिवार्य था। यह हमारे पूर्वजों द्वारा अनुभव किए गए स्वास्थ्य लाभों के कारण हो सका है जिन्होंने इन्हें रीति-रिवाजों में शामिल किया। उदाहरण के लिए, बर्नीयर्ड मिलेट या जिसे हिंदी में *सानवा* कहते हैं, उपवास में इस्तेमाल किया जाता था क्योंकि यह हल्का होने के कारण आसानी से पच जाता है और ऊर्जा बनाए रखता है। भारत के पूर्वी राज्यों बिहार और झारखंड में महिलाओं द्वारा अपने बच्चों के लिए रखे जाने वाला 3 दिन का उपवास शुरू करने से पहले फिंगर मिलेट या *मडुआ* रोटियां खाना अनिवार्य है। ऐसा शायद इसलिए किया गया था क्योंकि वे समझ गए थे कि इससे अधिक समय तक उनका पेट भरा रखेगा और लंबे उपवास के दौरान उन्हें अम्लता की समस्या नहीं होगी।

मोटे अनाजों ने बुवाई और फसलों की कटाई के दौरान महिलाओं द्वारा गाए जाने वाले गीतों में भी अपनी जगह बनाई है। कई समुदायों के बीच, शादी समारोह के दौरान दूल्हा और दुल्हन को आशीर्वाद देने के लिए इनका उपयोग किया जाता है। धार्मिक कथाओं में भी इनका वर्णन आता है और कई भाषाओं में दिन-प्रतिदिन इनका जिक्र आता है।

पाक कला का प्रदर्शन

मोटे अनाज से बने पकवान

भारत में परिवार के बुजुर्गों के मुंह से मोटे अनाज के प्रचलन के किस्से आम हैं। जनजातीय समुदायों और पारंपरिक ज्ञान के अन्य संरक्षक इनके बारे में कई और कहानियां भी सुना सकते हैं।

मोटे अनाजों के प्रकार

देश भर में उगाए जाने वाले पारंपरिक मोटे अनाज की कई किस्में समय के साथ लुप्त हो गई हैं। जनजातीय किसानों के साथ जमीन पर काम करने वाले गैर सरकारी संगठनों के अथक प्रयासों से, महाराष्ट्र के बट्टू और मध्य प्रदेश के *सिकिया* में कई स्थानीय और लुप्त हुई किस्मों को फिर से खोजा जा रहा है और संरक्षित किया जा रहा है। हालांकि, ये अभी तक व्यावसायिक उत्पादन स्तर तक नहीं पहुंच सके हैं। भारत में वर्तमान में, 9 किस्में हैं जो व्यावसायिक रूप से उपलब्ध हैं तथा मांग में हैं और देश भर में विभिन्न भागों में उगाई जा रही हैं। मोटे अनाजों के पोषण संबंधी गुणों से स्पष्ट होता है कि सामान्य स्वास्थ्य और पोषण की दृष्टि से इनका कितना महत्व है।

आगे बढ़ने का रास्ता

पिछले कुछ वर्षों से कई कंपनियां, डॉक्टर और यहां तक कि रसोइये भी सार्वजनिक रूप से मोटे अनाज के महत्व का प्रचार कर रहे हैं। कंपनियां इनका मुख्य भोजन के रूप में उपयोग करने के अलावा, उपभोक्ता स्वीकृति और उपयोग कों आसान बनाने के लिए मूल्य वर्धित उत्पाद बनाने पर भी काम कर रही हैं। इनसे निर्मित कुकीज, नाश्ता अनाज, नूडल्स और कई अन्य उत्पाद अब शहरी बाजारों में उपलब्ध हैं।

मोटे अनाजों से अधिकतम पोषण प्राप्त करने के लिए, उन्हें मुख्य खाद्य पदार्थों के रूप में प्रोत्साहित करना आवश्यक है। सरकार की नीति और उद्यमियों को यह सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी लेने की जरूरत है कि ये वास्तव में मुख्यधारा के भोजन की आदतों का हिस्सा बन सके। मोटे अनाज विभिन्न प्रकार के हैं और इन्हें कई स्वादिष्ट और पौष्टिक तरीकों से पकाया जा सकता है।

मोटे अनाज को अधिक मात्रा में अपने आहार में शामिल करने से हम न केवल अपने स्वयं के स्वास्थ्य और रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ा सकेंगे बल्कि किसान भी जलवायु के अनुकूल फसलें उगाकर लाभान्वित हो सकेंगे। ■

संदर्भ

1. अर्थशास्त्र और सांख्यिकी निदेशालय, कृषि और किसान कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, कृषि सांख्यिकी एक नजर में- 2017. https://cands.dacnet.nic.in/PDF/Agricultural:20Statistics:20at:20a:20Glance:202017.pdf पर 10/07/20 को देखा गया।
2. सक्सेना, रचित और वांगा, साई क्रांति और वांग, जिन एंड ऑर्सेट, वैलेरी और राघवन, विजया। (2018)। मिलेट्स फॉर फूड सिक्योरिटी इन द कन्टैक्स्ट ऑफ क्लाइमेट चेंज: ए रिव्यू, सस्टेनेबिलिटी. जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में खाद्य सुरक्षा के लिए बाज़ार: एक समीक्षा स्थिरता। 10.2228.10.3390/एसयू 10072228.
3. अनीता, एस, केन-पोटाका, जे., त्सुस्का टी. डब्ल्यू., त्रिपाठी, डी उपाध्याय, एस. कविश्वर ए, जलगम ए शर्मा एन, नेदुमारन एस. एक्सेपटेंस एण्ड इम्पैक्ट ऑफ मिलेट् बेस्ड मिड डे मील ऑ द न्यूट्रिशलन स्टेटस ऑफ एडोलेसेंट स्कूल गोइंग चिल्ड्न इन ए पेरी अर्बन रीजन ऑफ कर्नाटक स्टेट इन इंडिया। न्यूट्रीएंट्स 2019, 11, 2077.

तमिलनाडु के मंदिरों के शिलालेख

प्रदीप चक्रवर्ती

तमिलनाडु के मंदिरों में 50,000 से अधिक पंक्तियां उत्कीर्ण की गयी हैं जिनमें से कोई भी धर्म, दर्शन या पौराणिक ग्रंथों से कोई संबंध नहीं है। इनमें करीब एक हजार साल पहले तमिलनाडु के किसी गांव में उठने वाले मुद्दों की विविधता का पता चलता है। ज्यादातर शिलालेख भूमि और जल के स्थानीय प्रबंधन से संबंधित हैं। इनका संबंध विवादों या बंटवारे अथवा उपहारों से है। इनसे पता चलता है कि जमीन पर खेती कैसे की जाती थी, पानी का किस तरह से संरक्षित और उपयोग किया जाता था। शिलालेखों में इतनी विविधता है कि इनसे हमें उस समय के सामाजिक रीति-रिवाज का भी पता चलता है।

तमिलनाडु के प्रत्येक गांव में कई मंदिर हैं। तिरुवरूर, चिदंबरम, कांचीपुरम राज्य के प्रमुख उपासना केन्द्र हैं जहां हर साल हजारों तीर्थयात्री पहुंचते हैं। ये मंदिर समाज पर जबरदस्त आर्थिक प्रभाव भी डालते हैं। दूसरे मंदिर, जैसे तंजावुर का वृहदीश्वर मंदिर कला और वास्तुशिल्प का केन्द्र हैं और जिन्हें अपनी कलात्मक उत्कृष्टता के लिए अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है।

राज्य के ज्यादातर मंदिर, खासतौर पर एक हजार साल से अधिक पुराने मंदिरों में पत्थरों की दीवारें हैं जिनपर शिलालेख उत्कीर्ण किये गये हैं। भारत के प्राचीनतम शिलालेख सिंधु घाटी से हो सकते हैं और ज्यादा प्रसिद्ध उत्तर भारत में अशोक के शिलालेख हो सकते हैं, लेकिन विषयों की विविधता और मध्यकालीन भारत के विस्तार से चित्रण की दृष्टि से तमिलनाडु के मंदिरों में शिलालेखों की संख्या अधिकतम है!

हालांकि इन शिलालेखों का डाक्यूमेंटेशन अर्थात् प्रलेखन बड़े धैर्य और विस्तार से किया जा रहा है और इन्हें तमिल और अंग्रेजी में 19वीं शताब्दी से प्रकाशित भी किया जा रहा है, लेकिन इनकी चर्चा केवल अकादमिक क्षेत्र में ही हुई है। स्कूल और वयस्कों की शिक्षा के क्षेत्र में इनका प्रवेश नहीं हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ है कि गांवों के बच्चे शेष भारत का इतिहास सीखते हुए बड़े होते हैं मगर उन्हें अपने गांव की धरोहर को पढ़ने का बहुत कम अवसर

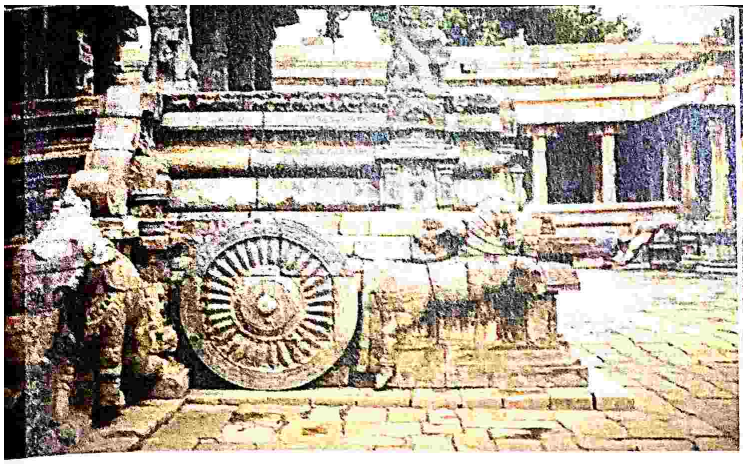

प्राप्त होता है। उन्हें वृहदीश्वर मंदिर के निर्माता महान चोल सम्राट राजराजा के बारे में तो पता होता है मगर यह पता नहीं होता कि वह उनके गांव में भी आया था और उनके गांव के मंदिर का निर्माण या जीर्णोद्धार भी उसी ने किया था।

ज्यादातर शिलालेख भूमि और जल के स्थानीय प्रशासन से संबंधित होते हैं! वे विवादों या आवंटन या उपहार में दी गयी वस्तुओं से संबंधित होते हैं। उनसे हमें पता चलता है कि भूमि पर कैसे खेती की जाती थी, पानी का संरक्षण और उपयोग किस तरह किया जाता था। उनसे विवादों के समाधान के तौर-तरीकों का भी पता चलता है जिनकी तादाद कम नहीं होती थी। विवादों के समाधान में शीघ्रता के मूलभूत सिद्धांत का ध्यान रखा जाता था। इसके अलावा समुदाय के अधिकारों को व्यक्ति के अधिकारों से ऊपर माना जाता था ताकि समाज में सामंजस्य बना रहे और सब लोग एकजुट होकर रह सकें। इसके अलावा भूमि, भोजन और जल उपभोग योग्य अधिकार तो

इरुंकांगुडी रामनाथपुरम जिले का एक छोटा-सा गांव है। गांव के तालाब के पास शिलापट्ट पर 829 ई. का एक शिलालेख अंकित है। इसमें इरुंजोनाडु के मुखिया इरुप्पैकुडी किलवन की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि उन्होंने एक नये तालाब का निर्माण कराया, पुराने बांध की मरम्मत कर उसकी ऊंचाई बढ़ाई ताकि तालाब में अधिक पानी जमा हो सके। इतना ही नहीं, इसमें यह भी कहा गया है कि उन्होंने राजा का राजस्व बढ़ाने के लिए एक नया गांव बसाया।

माना जाता था, मगर उन्हें दैवी उपहार पवित्र मानते हुए सम्मान योग्य समझा जाता था। स्थानीय सिंचाई सुविधाओं का निर्माण करना श्रेष्ठता का कार्य माना जाता था। बीमार लोगों का सम्मान किया जाता था और उन्हें सुविधाएं दी जाती थीं। कई बार तो ऐसे उदाहरण भी देखने में आये हैं जब किसी देवदासी ने भी ऐसे कार्यों के लिए धन की व्यवस्था की। इरुंकांगुडी रामनाथपुरम जिले का एक छोटा-सा गांव है। गांव के तालाब के पास शिलापट्ट पर 829 ई. का एक शिलालेख अंकित है। इसमें इरुंजोनाडु के मुखिया इरुप्पैकुडी किलवन की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि उन्होंने एक नये तालाब का निर्माण कराया, पुराने बांध की मरम्मत कर उसकी ऊंचाई बढ़ाई ताकि तालाब में अधिक पानी जमा हो सके। इतना ही नहीं, इसमें यह भी कहा गया है कि उन्होंने राजा का राजस्व बढ़ाने के लिए एक नया गांव बसाया। यह भी बताया गया है उन्होंने कई हिंदू और जैन मंदिरों का निर्माण किया और उनके साथ स्तंभों वाले बड़े कक्षों का निर्माण किया ताकि उनमें लोगों को भोजन और पानी उपलब्ध कराया जा सके। कोंगुनाडु में शिलालेख तो कम मिले हैं, लेकिन पेरुर मंदिर में राजा का 1224 ई. का एक शिलालेख मिला है जिसमें एक नया बांध बनाने का आदेश देते हुए कहा गया है कि इसका निर्माण इस तरह से होना चाहिए जिससे पुराने कोलुर आनी पर बुरा असर न पड़े। तिरुकोइलुर में 12वीं शताब्दी के एक शिलालेख में व्यापारियों के संघ ने भूमि देवी के मंदिर के साथ मंडप बनाने और उसके हल की प्रस्तर प्रतिमा लगाने को कहा गया है। शिलालेख में संघ की आचार संहिता का भी उल्लेख किया गया है जो आज भी वाणिज्यिक संगठनों के लिए मानदंड बन सकती है।

मंदिरों की दीवारों पर जाति संबंधी विवादों को सुलझाने का भी वर्णन किया गया है। ताम्ब्रपर्णी नदी के तट पर भव्य ब्रह्मदेशम मंदिर को राज्य के कला प्रेमियों ने भुला दिया है। इसकी दीवारों पर संक्षिप्त पंच-फैसला अंकित है जिसमें समूचे गांव की भलाई के लिए दोनों जातियों से शांतिपूर्वक रहने को कहा गया है। तिरुमेयम में कटुतापूर्ण झगड़े को सुलझाने के लिए पूरे गांव के बंटवारे को एकमात्र समाधान बताया गया है।

मध्यकालीन तमिलनाडु में प्रशासन बड़ा सुव्यवस्थित था और स्थानीय गांवों को जिस स्तर की स्वतंत्रता मिली हुई थी वह आज के मानदंडों के अनुसार अभूतपूर्व थी। तिरुनलवेली में मानुर के शिव मंदिर में 898 ई. का एक संक्षिप्त शिलालेख बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

लेखक तमिलनाडु में धरोहर यात्राएं संचालित करते हैं और उन्होंने राज्य के बारे में कई पुस्तकें लिखी हैं। ईमेल: pradeepchakravarthy75@gmail.com

इसमें रात को गांव के भू-स्वामियों की बैठक आयोजित किये जाने और गांव की न्यायिक आर विधायी सभा में चुनाव के नियमों को नये सिरे से बनाने का उल्लेख किया गया है। यहां पर इससे कुछ अधिक प्रसिद्ध उथिरामेरुर शिलालेख का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अंग्रेजों से 'उपहार' में मिले लोकतंत्र से बहुत पहले से ही तमिलनाडु में वोट डालकर जनादेश प्राप्त करने का प्रचलन था। इनसे यह भी पता लगता है कि ग्राम सभाओं में सिर्फ बूढ़े और धनी लोग ही अपनी मर्जी से मनमाने फैसले नहीं सुनाते थे बल्कि वे सुयोग्य लोग होते थे जिनका चुनाव कठोर मानदंडों के आधार पर किया जाता था और वे जीवन भर पद पर नहीं रह सकते थे। दसवीं शताब्दी के तिरुनिनरावुर पेरुमल मंदिर के शिलालेख से निर्वाचित प्रतिनिधियों के पद पर रहने की शर्तें और भी स्पष्ट हो जाती हैं। इससे यह भी पता चलता है कि किस तरह कभी-कभी विधायी और न्यायिक कार्यों में अंतर किया जाता था। नियमों का उल्लंघन करने पर 25 स्वर्णमुद्राएं (कलंजस) तक का जुर्माना हो सकता था।

कुछ शिलालेखों में मंदिरों की मदद से चलने वाले अस्पतालों/चिकित्सा शिक्षा संस्थाओं का उल्लेख मिलता है। इनसे मंदिरों के काम-काज के तौर तरीकों और आमदनी का भी पता चलता है। तिरुवोत्तियुर का मठ इतना प्रसिद्ध था कि केरल में वल्लुवानड के राजा ने वहां के वल्लभ को बुलाया और संसार त्याग करने के बाद चतुरानन पंडित के रूप में मठ का प्रमुख बन कर तिरुवोत्तियुर आ गया। कहा जाता है कि उसने यह निर्णय इसलिए किया क्योंकि वह अपने प्रिय मित्र राजादित्य को राष्ट्रकूट राजा कृष्ण-तृतीय के आक्रमण से नहीं बचा सका था और 949 ई. में ताकोलाम में उसकी मृत्यु हो गयी थी। इसी अपराध बोध में उसने यह कदम उठाया। इन्नायिरम के नरसिम्ह मंदिर में एक बड़ा विद्यालय था जिसे राजेन्द्र चोल प्रथम की उत्तर भारत पर विजय की खुशी में बहुत बड़ा अनुदान प्राप्त हुआ। राजाधिराज के एक और उपहार का उल्लेख भी शिलालेखों में मिलता है। एक में वेदों, तर्कशास्त्र और दर्शनशास्त्र के 13 को शिक्षकों का उल्लेख किया गया है और दूसरे में दर्शनशास्त्र की कई शाखाओं के 19 शिक्षकों का जिक्र हुआ है।

कांची के पास तिरुमुक्कुडल में पेरुमल मंदिर से एक अस्पताल संबद्ध था। इसमें मंदिर की समूची दीवारों पर उत्कीर्ण लंबे और सुंदर शिलालेख में 1068 ई. में राजेन्द्र चोल से अनुदान के रूप में प्राप्त भूमि का उल्लेख किया गया है।

कांची के पास तिरुमुक्कुडल में पेरुमल मंदिर से एक अस्पताल संबद्ध था। इसमें मंदिर की समूची दीवारों पर उत्कीर्ण लंबे और सुंदर शिलालेख में 1068 ई. में राजेन्द्र चोल से अनुदान के रूप में प्राप्त भूमि का उल्लेख किया गया है। यह मंदिर एक वैदिक और आगम शिक्षण संस्था का संचालन करता था जिसमें कम-से-कम 14 शिक्षक और लड़कों के लिए छात्रावास भी था। बच्चों को हर शनिवार तेल मालिश और गर्म पानी की सुविधा भी दी जाती थी। वे चटाइयों पर सोते थे और रात को रोशनी के लिए उनके पास दीपक होते थे। छात्रावास के कर्मचारियों में पुरुषों के साथ-साथ महिलाएं भी कार्य

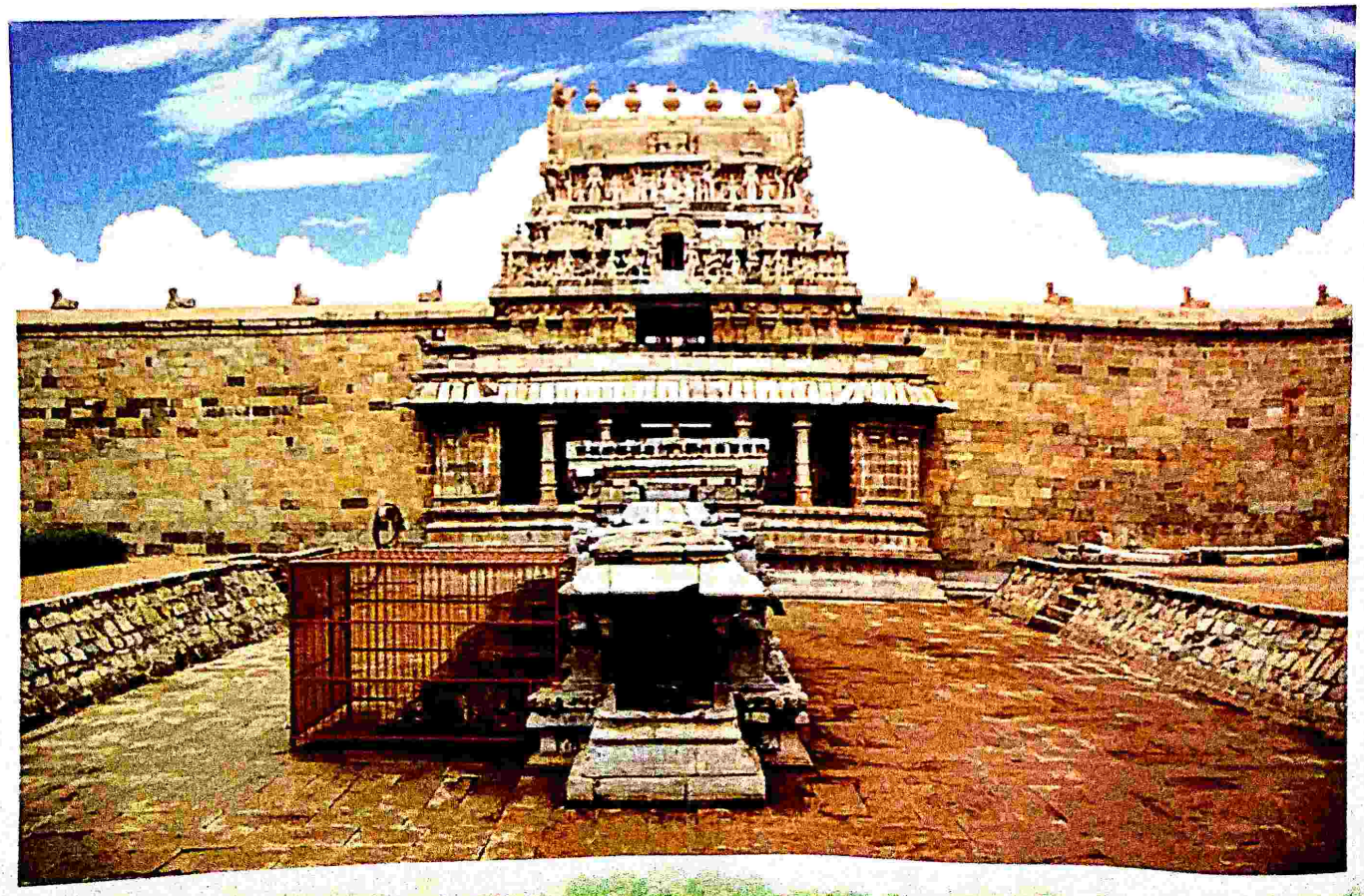

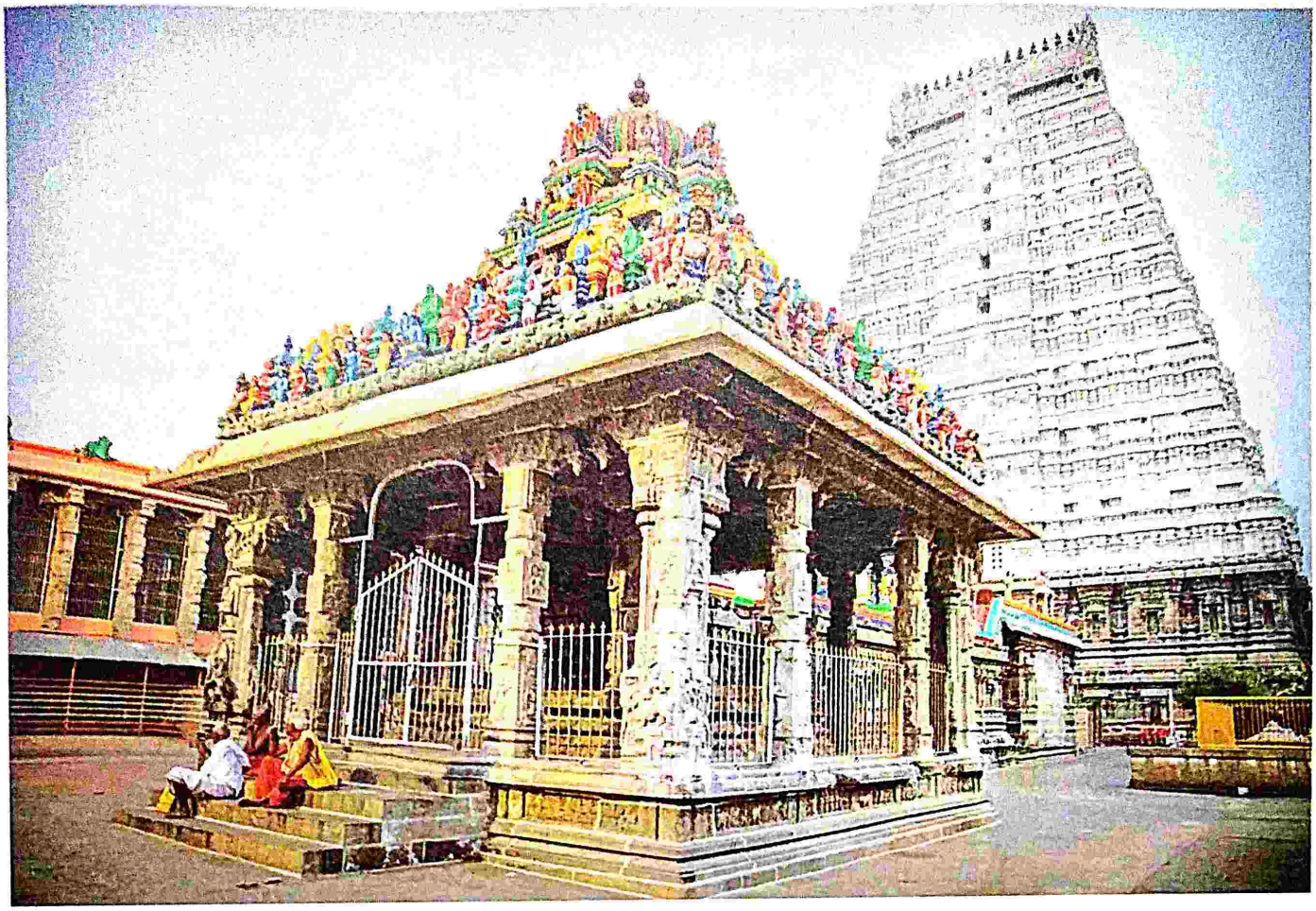

करती थीं। चिकित्सालय में कम-से-कम सात कर्मचारी थे, जिनमें एक शल्य चिकित्सक, एक नाई जो स्थानीय गांव का चिकित्सक भी था और एक प्रधान चिकित्सक भी था जिसे सवर्णन कोडानदारामन अस्वत्तामा भट्टन कहा जाता था। रोगियों को दिये जाने वाले भोजन, भेषजशाला में उपलब्ध दवाओं आदि की सूची बड़ी शानदार और लंबी है। सबसे अनोखी बात तो यह है कि इन दवाओं में से कई का आज भी आयुर्वेदिक दवाओं के रूप में उपयोग किया जाता है।

शिलालेखों में इतनी अधिक विविधता है कि हमें उस समय के कई रीति-रिवाजों का भी पता चल जाता है। कांचीपुरम के 1425 ई. के शिव मंदिर के एक शिलालेख से तत्कालीन ब्राह्मणों में प्रचलित एक कुप्रथा की पता चलता है जिसमें शादी के लिए लड़के के पिता को लड़की के पिता को कुछ धन देना पड़ता था। कर्नाटक, तेलुगु, तमिल और केरल क्षेत्र के ब्राह्मण समुदाय के सदस्यों के साथ लंबी चर्चा के बाद इस तरह का उपहार लेने और देने वालों को दंडित करने का फैसला किया गया। ब्राह्मणों के लिए सबसे कठोर दंड जाति से बहिष्कृत करना होता था जिसका उल्लेख भी शिलालेखों में मिलता है। वेदारण्यम मंदिर में 1218 ई. का एक शिलालेख है जिसमें 'आल विलइ प्रामाणम' यानी दासों के बिक्री नामे का उल्लेख किया गया है। गांव की सेना के एक अधिकारी ने 1000 कासु में 15 दास मंदिर को बेचे।

कई शिलालेखों में भूमि अधिकारों का उल्लेख किया गया है। तिरुकोलकुडी के एक शिलालेख में बताया गया है कि किस तरह मंदिर ने बंजर भूमि को स्थानीय किसान को पट्टे पर दिया। किसान जमीन को लेने को तो राजी हो गया लेकिन उसने इसके लिए लगान कम करने की मांग की क्योंकि उसका कहना था कि उसे बंजर भूमि को खेती के लायक बनाने में काफी वक्त लगेगा। इस शिलालेख में उस समय उगायी जाने वाली विभिन्न प्रकार की फसलों की सूची भी दी गयी है। पिरानमलै के एक अन्य शिलालेख में व्यापारी अपने उत्पादों पर मंदिर के लिए चुंगी देने को सहमत हो जाते हैं। उस समय जिन वस्तुओं का आमतौर पर व्यापार होता था उनमें नमक, धान, चावल, चना, सेम, तुअर दाल, अरंडी के बीज, सुपारी, कालीमिर्च, हल्दी, सोंठ, प्याज, सरसों, जीरा, आंवला, बहेड़ा (भवन निर्माण में काम आने वाला), लोहा, कपास, धागा, मोटा कपड़ा, पतला कपड़ा, महीन धागा, मोम, पटसन, चंदन, शहद, रेशम, गुलाब जल, विग में काम आने वाले इंसानों के बाल, कपूर का तेल, खोल, कस्तूरी तेल, जव्वाधु (सुगंधित पौधों से बना मिश्रण), स्वस्थ गायें, घोड़े और हाथी आदि शामिल थे।

इसके अलावा भी ऐसे कई शिलालेख हैं जिनके बारे में हम कभी नहीं जान पाएंगे क्योंकि वे जीर्णोद्धार का कार्य करते समय नष्ट हो गये हैं। भावी पीढ़ियों से यह आशा ही की जा सकती है कि वे इन्हें इतिहास की पुस्तकों तक लाने के तौर-तरीकों का पता लगाएंगे। प्रत्येक मंदिर के शिलालेखों का संरक्षण ही नहीं किया जाएगा बल्कि उनके आलेख का सरल तमिल और अंग्रेजी में अनुवाद भी दिया जाएगा ताकि स्थानीय लोग और आम जनता उसका फायदा उठा सकें। ■

संदर्भ

- सेलेक्ट इन्सक्रिप्शंस ऑफ तमिलनाडु, पुरातत्वशास्त्र विभाग, तमिलनाडु सरकार (2006).

नृत्य से सामंजस्य

वीणा मणि

नृत्य हमेशा से आम लोगों तक पहुंचने का एक बेहतर माध्यम रहा है। यह वेदों और पुराणों की कहानियों को उन लोगों तक पहुंचाने का माध्यम रहा है, जो इसे पढ़ने में सक्षम नहीं थे। नृत्य, प्राचीन काल से ही संवाद और विचार व्यक्त करने का माध्यम रहा है। नृत्य को राजाओं का संरक्षण भी हासिल था। चाहे लोक नृत्य हो या शास्त्रीय नृत्य, दोनों विधाओं के जरिए आध्यात्मिक और नैतिक कहानियां सुनाने की परंपरा रही है।

संगीत नाटक अकादमी द्वारा 8 तरह के शास्त्रीय नृत्यों को मान्यता दी गई है। इसके अलावा, भारत में लोक नृत्य की भी समृद्ध विरासत है। नृत्य की कुछ शैली मनोरंजन से भी जुड़ी है। गणतंत्र दिवस परेड में नृत्य के इन अलग-अलग रूपों को एक मंच पर देखा जा सकता है, जहां देश की सांस्कृतिक विविधता को शानदार तरीके से पेश किया जाता है। शास्त्रीय नृत्यों में भरतनाट्यम, कुचिपुड़ी, कथक, मोहिनीअट्टम, कथकली, सत्रिया, ओडिसी और मणिपुरी शामिल हैं। हालांकि, नृत्य की ये शैलियां सिर्फ वहां तक सीमित नहीं हैं, जहां इनकी उत्पत्ति हुई। उदाहरण के तौर पर, भरतनाट्यम और दक्षिण भारत के अन्य नृत्य उत्तर भारत में भी उतने ही लोकप्रिय हैं, जितने ये दक्षिण भारत में हैं। इसी तरह, कथक, ओडिसी और उत्तर भारत के अन्य नृत्य दक्षिण भारत में भी बेहद लोकप्रिय हैं।

नृत्य को संबंधित क्षेत्र के राजाओं से भी संरक्षण मिलता है। अनेकता में एकता का एक उदाहरण कुचिपुड़ी की कहानी से समझा जा सकता है। आंध्र प्रदेश से जुड़े नृत्य कुचिपुड़ी के एक प्रमुख संरक्षक गोलकुंडा के नवाब अब्दुल हसन कुतुब शाह थे। 17वीं सदी में यह कला धीरे-धीरे लुप्त हो रही थी। ऐसे में नवाब ने ऐसे नर्तक-नर्तकियों को उपहार में पूरा गांव दे दिया जिसे अब कुचिपुड़ी नाम से जाना जाता है। कुचिपुड़ी नृत्य से जुड़े लोगों को 'भगवतुलु' कहा जाता है, क्योंकि उनके नृत्य-नाटकों में हिंदुओं के देवता विष्णु के बारे में बताया जाता है। ऐसे नृत्य में भागवत पुराण की कथाओं का वर्णन होता है। 'पारंपरिक शब्दम्' शैली में अक्सर राजाओं के बारे में कहानियां बयां की जाती हैं और कभी-कभी 'मंडुका शब्दम्' की तरह यह नृत्य भी 'सलाम' के साथ खत्म होता है। 'मंडुका शब्दम्' में गजेंद्र मोक्षम की कहानी बताई जाती है। शब्दम् में बताया जाता है कि हाथियों के राजा ने किस तरह से हिंदुओं के देवता विष्णु की जान बचाई। दरअसल, एक मुसलमान राजा ने इस कला को संरक्षण प्रदान किया, जबकि इसका अभ्यास कृष्णा जिले में सिर्फ ब्राह्मण समुदाय के लोग करते थे। इन ब्राह्मण कलाकारों ने अपने प्रदर्शन में ऐसे शब्दों को शामिल किया, जो मुख्य तौर पर मुसलमानों से जुड़े थे। 'शब्दम्' को कुचिपुड़ी के प्रदर्शनों की सूची में काफी अहम माना जाता है।

लेखिका पत्रकार और कुचिपुड़ी नृत्यांगना हैं। ईमेल: veena.mani1107@gmail.com

1. आंध्र प्रदेश का कुचिपड़ी नृत्य, यह अपने बेहतरीन और स्वाभाविक लय के लिए जाना जाता है;
2. भरतनाट्यम, तमिलनाडु की 2,000 साल से भी पुरानी नाट्य परंपरा;
3. कथकली, केरल की इस नृत्य शैली में नृत्य, संगीत और अभिनय का मिश्रण होता है। साथ ही, इसमें पौराणिक कहानियों को नाटकीय तरीके से पेश किया जाता है;
4. सत्रिया, असम, इस नृत्य में पौराणिक शिक्षाओं को दिलचस्प तरीके से पेश किया जाता है;
5. मोहिनीअट्टम, केरल, इसे महिलाएं पेश करती हैं, यह नृत्य अपनी बारीक मुद्राओं और भंगिमाओं के लिए मशहूर है;
6. मणिपुर का मणिपुरी नृत्य, यह भक्ति नृत्य है जिसमें सृष्टि के सृजनकर्ताओं के बारे में भी बताया जाता है;
7. ओडिशा का ओडिसी नृत्य, इसमें प्रेम, ईश्वर और अध्यात्म की झलक देखने को मिलती है;
8. कथक, उत्तर भारत में लोकप्रिय इस नृत्य शैली में हिंदू और मुसलमान की प्रतिभाओं का मिश्रण देखने को मिलता है।

यह उदाहरण जहां दो धार्मिक समुदायों के एकसाथ आने का उदाहरण प्रस्तुत करता है, वहीं कुचिपुड़ी की वजह से लिंग संबंधी रूढ़ियों को भी खत्म करने में मदद मिली। कुचिपुड़ी में सिर्फ पुरुष नर्तक हुआ करते थे। चूंकि वे अपनी कला के प्रदर्शन के लिए एक गांव से दूसरे गांव में जाते थे, इसलिए ये पुरुष, महिला किरदारों की भी भूमिका निभाते थे। इसे 'स्त्री वेशम्' कहा जाता है। ये पुरुष नर्तक सत्यभामा और रुक्मिणी जैसी भूमिकाएं अदा करते थे। इन किरदारों को निभाते वक्त वे महिलाओं की तरह वस्त्र पहनते थे।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया के साथ नृत्य में भी बदलाव देखने को मिला। नृत्यों में क्षेत्रीय और भाषाई बंदिशें टूटने लगीं। नृत्य से संबंधित क्षेत्र की भाषा चुनने के बजाय कलाकार अन्य भाषाओं की धुनों को भी चुनने लगे, मसलन भरतनाट्यम या कुचिपुड़ी नृत्य पेश करने के लिए तराना का चुनाव करना। इस नृत्य में किसी सामाजिक मुद्दे का चुनाव कर इसे दिखाया जाता है। इस तरह के प्रयोग से किसी एक क्षेत्र के नृत्य से दूसरे क्षेत्र के लोग भी जुड़ाव महसूस करने लगे। अगर मैं अपना ही उदाहरण दूं तो- मैं तमिल हूं, मेरी परवरिश दिल्ली में हुई और मैं आंध्र प्रदेश के नृत्य से जुड़ी हूं। हर तरह के नृत्य की अपनी खास शैली और विशेषता होती है। हकीकत यह है कि इस कला की हर विधा में कहानियां पेश की जाती हैं और लैंगिक और भाषाई बंदिशों को भी तोड़ने में मदद मिलती है।

कथक नृत्य में कृष्ण की रास लीला एक अहम विषय है। ब्रज भूमि में होली के खेलने से लेकर कंस से मुठभेड़ तक, कृष्ण के चरित्र को व्यापक तौर पर पेश किया गया है। कुचिपुड़ी की तरह, कथक को भी उत्तर भारत के राजाओं से संरक्षण मिला और यह काफी अहम है। 19वीं सदी को कथक का स्वर्णिम दौर माना जाता है। नवाब वाजिद अली शाह के शासन के दौरान कथक को काफी बढ़ावा मिला और इस तरह लखनऊ घराना की स्थापना हुई। कथक को भी मुस्लिम राजाओं से संरक्षण मिला, लेकिन इसमें राधा-कृष्ण के अलावा दूसरे हिंदू देवी-देवताओं को बड़े पैमाने पर दिखाया गया है।

वीतते वक्त के साथ नृत्य की एक शैली की खूबियां, दूसरी शैली में भी शामिल की जाने लगीं। अष्टपदी ओडिसी का प्रमुख हिस्सा है। अब बड़े पैमाने पर अष्टपदी का इस्तेमाल भरतनाट्यम और कुचिपुड़ी में भी किया जाता है। अपनी अभिनय कला के प्रदर्शन के लिए दक्षिण भारत के कलाकारों अष्टपदी का इस्तेमाल दो रूपों में करते हैं। अष्टपदी, भरतनाट्यम और कुचिपुड़ी दोनों का अटूट हिस्सा बन चुके हैं। कलाकार जब कृष्ण की लीला का वर्णन करते हैं, तो वे

बिरजू महाराज की भाव-भंगिमाओं से परिपूर्ण कत्थक प्रस्तुति। लखनऊ कालका बिंदादीन घराने से जुड़े महाराज ने कथक शैली को काफी समृद्ध किया है।

खुद को जयदेव के अष्टपदी से जोड़ते हैं। अष्टपदी विधा में 'रस हरि मिह विहित विलासम्' काफी लोकप्रिय है। भरतनाट्यम में कलाक्षेत्र शैली में इस अष्टपदी का नृत्य निर्देशन भी मशहूर है।

बड़े पैमाने पर लोगों तक पहुंचने के लिए नृत्य में सामाजिक मुद्दों को शामिल करने का भी प्रयास किया जाता रहा है। नर्तक/नृत्यांगनाओं ने रवींद्रनाथ टैगोर की रचनाओं और गांधी दर्शन का काफी इस्तेमाल किया गया है। हमने देखा है कि भरतनाट्यम, ओडिसी और शास्त्रीय नृत्य की अन्य विधाओं में भी गांधी की शिक्षाओं का एक विषय के तौर पर इस्तेमाल किया गया है। गांधी दर्शन के आधार पर नृत्य महोत्सवों का आयोजन किया जा रहा है। रवींद्रनाथ टैगोर की प्रमुख कृति 'चंडालिका' को कई कलाकारों ने विभिन्न नृत्यों में पेश किया। स्वर्गीय डॉ. वेमपति चिन्ना सत्यम ने भी इसे अपने नृत्य के जरिए पेश किया था। इनके नृत्य निर्देशन में छुआछूत और समाज पर इसके असर की कहानी को भारतीय और दुनिया के बाकी देशों के दर्शकों के लिए पेश किया गया है।

ज्यादा-से-ज्यादा लोगों तक पहुंचने के लिए नृत्य से जुड़े कलाकारों के बीच भी समकालनीन विषयों को चुनने का प्रचलन बढ़ा है। इसमें संस्कृति मंत्रालय की भी बड़ी भूमिका है। इसकी स्वायत्तशासी संस्था सांस्कृतिक संसाधन और प्रशिक्षण केंद्र (सीसीआरटी) अपने एक्सटेंशन कार्यक्रम के जरिए स्कूलों और कॉलेजों में व्याख्यानों का आयोजन करती है, ताकि वंचितों और गरीबों को भी भारत की सांस्कृतिक विविधता से करीबी तौर पर रूबरू होने का मौका मिल सके। एक्सटेंशन कार्यक्रम के जरिये स्कूलों और कॉलेजों के छात्रों को भारत में नृत्य की विभिन्न विधाओं के बारे में शिक्षा दी जाती है।

सीसीआरटी शिक्षकों के लिए भी कार्यशालाओं का भी आयोजन करती है, ताकि उन्हें कला के प्रति संवेदनशील बनाया जा सके और वे छात्र-छात्राओं को कला से जुड़ने में योगदान कर सकें। छात्रवृत्ति पाने वालों को मंच पर प्रदर्शन करने के लिए आमंत्रित भी किया जाता है, ताकि उन्हें कला के अन्य स्वरूपों के बारे में जानकारी मिल सके।

इस सिलसिले में आधारभूत संरचना तैयार करने के लिए संस्थानों और लोगों को सांस्कृतिक अनुदान भी मुहैया कराया जाता है। साथ ही, केंद्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा मान्य प्राप्त नृत्य की 8 शैलियों में पारंपरिक तरीके से नृत्य कार्यक्रम भी पेश किए जाते हैं। हालांकि, अगर कुछ खास लोगों को छोड़ दिया जाए, तो आम लोगों पर इसका असर सीमित रहता है। अलग-अलग तरह के लोगों को भारतीय शास्त्रीय नृत्य सिखाने में हम भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद (आईसीसीआर) के योगदान को खारिज नहीं कर सकते। आईसीसीआर दूसरे देशों के लोगों को नृत्य सीखने के लिए छात्रवृत्ति भी देती है। इस तरह की छात्रवृत्ति से जहां छात्र-छात्राएं नृत्य सीखने के लिए गुरुओं के पास पहुंचते हैं, वहीं परिषद दुनिया भर में अपने केंद्रों में नृत्य सिखाने वाले गुरुओं को भी भेजता है, ताकि उन देशों में भी इच्छुक लोग नृत्य सीख सकें। इस तरह की पहल से रूस और वाली जैसे देशों में नृत्य से जुड़ी प्रतिभाओं को उभारने में मदद मिली है।

इन संस्थानों के अलावा, भारत पर्व विभिन्न राज्य सरकारों से आयोजित किए जाने वाले उत्सव-महोत्सव (जैसे कि खजुराहो नृत्य महोत्सव, कोणार्क नृत्य महोत्सव, महाबलीपुरम नृत्य महोत्सव) भारत की विभिन्न कला शैलियों को एक मंच पर दिखाने के लिए अवसर प्रदान करते हैं। दरअसल, अलग-अलग नृत्य शैलियों को मिलाकर भी एक ही विषय को दिखाया जा सकता है। इसलिए, ओडिसी से जुड़ा कोई कलाकार, कुचिपुड़ी से जुड़ा कोई कलाकार और कथक से जुड़ा कोई कलाकार कृष्ण की लीलाओं या गंगा

राजा और राधा रेड्डी, इन दोनों को कुचिपुड़ी नृत्य को नए अंदाज में पेश करने का श्रेय जाता है। हालांकि, उन्होंने नृत्य की पारंपरिक खूबियों को भी बरकरार रखा।

कलामंडलम् गोपी, कथकली की दुनिया में इनका बड़ा नाम है। वे इस नृत्य शैली में अपने रूमानी और नाटकीय अंदाज और प्रयोगों के लिए मशहूर हैं।

झावेरी बहनें। इन गुजराती बहनों ने मणिपुरी नृत्य को लोकप्रिय बनाने में अहम भूमिका निभाई है।

के अवतरण या अर्द्धनारीश्वर की अवधारणा को दिखाने के लिए एकसाथ काम कर सकता है। नृत्य कलाकारों के लिए भी विभिन्नता में एकता की बात लागू होती है।

विदेशों में होने वाले भारतीय उत्सव भी सांस्कृतिक विभिन्नता को फैलाने में अहम भूमिका निभाते हैं। भारतीय नृत्य की सभी शैलियों- शास्त्रीय और लोक नृत्य को मंच मुहैया कराया गया है। सरकार ने इन उत्सवों के लिए कलाकारों को नामित किया है और ये कलाकार विदेशी मुल्कों में अपनी कला पेश करते हैं।

इस तरह की छात्रवृत्ति और फंडिंग से उन लोगों को यह कला सिखाने में मदद मिलती है, जिनकी दिलचस्पी इसमें रहती है। साथ ही, दूरदर्शन भी अपने राष्ट्रीय और क्षेत्रीय चैनलों पर नृत्य पर शो का प्रसारण करता है। इससे नृत्य को ग्रामीण इलाकों तक पहुंचाने में मदद मिली है। दूरदर्शन के क्षेत्रीय चैनल सिर्फ संबंधित क्षेत्र की नृत्य शैली पर ही ध्यान केंद्रित नहीं करते। वे संबंधित क्षेत्र की अलग-अलग नृत्य शैलियों से जुड़े कलाकारों को भी बुलाते हैं। दूरदर्शन का राष्ट्रीय चैनल विभिन्न क्षेत्रों की शैलियों के बारे में जानकारी देता है।

सीसीआरटी जैसी सरकारी संस्थाएं जहां सांस्कृतिक गतिविधियों के प्रसार में अपनी भूमिका निभाती हैं, वहीं गैर-सरकारी संगठन (एनजीओ) भी इस सांस्कृतिक विविधता को फैलाने में महत्वपूर्ण रोल अदा करते हैं। भारतीय अंतरराष्ट्रीय ग्रामीण सांस्कृतिक केंद्र (आईआरसीईएन) देशभर के स्कूलों में व्याख्यान और कार्यशालाओं का आयोजन करती है। सांस्कृतिक अध्ययन और विकास केंद्र (सीसीएसडी) भी प्रशिक्षु शिक्षकों के लिए कार्यशालाओं का आयोजन करता रहा है। जहां भी इस सालाना कार्यशाला का आयोजन किया गया है, वहां इसमें संबंधित लोगों ने काफी दिलचस्पी दिखाई है। कुछ एनजीओ इस तरह के कुछ व्याख्यान और कार्यशालाओं के आयोजनों का खर्च खुद उठाते हैं, जबकि संस्कृति मंत्रालय आंशिक तौर पर कुछ आयोजनों की फंडिंग करता है।

इन तमाम प्रयासों की वजह से भारतीय नृत्य शैलियों को दुनिया के नक्शे पर अपनी जगह बनाने में मदद मिली है। चेन्नई का मरगजी सीजन नृत्य और संगीत के लिए उत्सव का समय होता है। यह उत्सव इतना मशहूर है कि दुनिया भर के कलाकार इस समय अपनी कला का प्रदर्शन करना चाहते हैं। इस दौरान दुनिया भर के नृत्य कलाकार चेन्नई पहुंचकर वहां ठहरते हैं और अपनी कला का नमूना पेश करते हैं। साथ ही, देश के बाकी हिस्सों में भी अवसरों की तलाश करते हैं। वे भारत में तकरीबन दो महीने तक रहते हैं। हालांकि, इस दौरान

वापूराम बरबायन अताई, इनका जन्म 1887 में हुआ था। वह असमिया नृत्य शैली-सत्रिया में बड़ा नाम हैं।

केलूचरण महापात्रा : ओडिसी नृत्य से जुड़े महापात्रा को 20वीं सदी में इस शास्त्रीय नृत्य को फिर से मजबूती प्रदान करने का श्रेय जाता है

रुक्मिणी देवी अरुंडेल : उन्हें भरतनाट्यम और शास्त्रीय संगीत में महत्वपूर्ण योगदान के लिए जाना जाता है।

उनका मकसद सिर्फ अपनी कला को पेश करना नहीं, बल्कि गुरुओं के साथ रहकर कला की बारीकियों को सीखना भी होता है।

जो लोग भारत की विभिन्न कला शैलियों के बारे में अध्ययन करना चाहते हैं, केंद्रीय संगीत नाटक अकादमी और राज्यों से जुड़ी अकादमियों के अभिलेखागार इसमें उनकी मदद कर सकते हैं। वहां पर कोई भी शख्स जाकर भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के बारे में जानकारी हासिल कर सकता है। सीसीआरटी की भी अपनी लाइब्रेरी है, जहां कोई भी शख्स जा सकता है। सीसीआरटी के दस्तावेज विभाग के पास उनकी गतिविधियों की वीडियो क्लिप होती है। इसकी मदद से भारत की सांस्कृतिक विरासत के बारे में समझा जा सकता है।

ज्यादा-से-ज्यादा लोगों तक पहुंचने के लिए नृत्य से जुड़े कलाकारों के बीच भी समकालनीन विषयों को चुनने का प्रचलन बढ़ा है। इसमें संस्कृति मंत्रालय की भी बड़ी भूमिका है। इसकी स्वायत्तशासी संस्था सांस्कृतिक संसाधन और प्रशिक्षण केंद्र (सीसीआरटी) अपने एक्सटेंशन कार्यक्रम के जरिए स्कूलों और कॉलेजों में व्याख्यानों का आयोजन करती है, ताकि वंचितों और गरीबों को भी भारत की सांस्कृतिक विविधता से करीबी तौर पर रूबरू होने का मौका मिल सके। एक्सटेंशन कार्यक्रम के जरिये स्कूलों और कॉलेजों के छात्रों को भारत में नृत्य की विभिन्न विधाओं के बारे में शिक्षा दी जाती है।

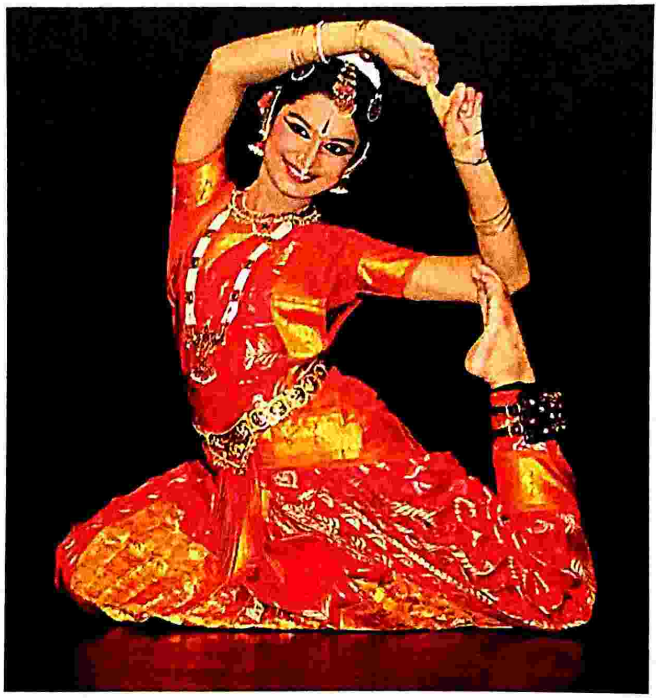

भरतनाट्यम की एक मुद्रा, नर्तकी ने घुंघरू समेत तमाम आभूषण पहन रखे हैं।

भंगिमाओं और मुद्राओं का इस्तेमाल भी एक शैली है, जिसे हर कोई समझ सकता है। हाथों की मुद्राएं एक भाषा कोड की तरह होती हैं, जिसे हर कोई समझ सकता है, चाहे वह भाषा जानता हो या नहीं। अगर आप हाथों की मुद्राओं का विश्लेषण करेंगे, तो आपको पता चलेगा कि यह आपकी रोज की जिंदगी में इस्तेमाल होने वाली मुद्राओं से ज्यादा अलग नहीं है। उदाहरण के तौर पर, 'अंजलि हस्त' को 'नमस्ते' का ही रूप कहा जा सकता है जिसका इस्तेमाल हम सभी करते हैं। आम लोग 'हस्तों' को अलग-अलग नामों से जानते हैं। 'करतारीमुख' कैंची का सर (ऊपरी हिस्सा) कहा जा सकता है। कुछ दक्षिण भारतीय भाषाओं में इसे 'कतरी' के नाम से जाना जाता है। करतारी, कैंची के लिए संस्कृत का शब्द है। भारतीय नृत्य शैलियों में न सिर्फ हाथों की मुद्राएं, बल्कि चेहरों के हावभाव का भी इस्तेमाल किया जाता है और इस तरह पूरी दुनिया के लोगों के लिए इसे समझने में भाषा आड़े नहीं आएगी। शायद यही वजह है कि बड़ी संख्या में विदेशी नागरिक भारतीय नृत्य शैलियों को सीखने में दिलचस्पी दिखाते हैं। इन मुद्राओं और भंगिमाओं की वजह से इस तरह के नृत्य में अलग-अलग संस्कृति और पृष्ठभूमि के लोगों को एक साथ लाने में मदद मिलती है।

कहानी सुनाना नृत्य का सिर्फ एक हिस्सा है, जबकि शुद्ध नृत्य इसका अटूट हिस्सा है। दक्षिण भारत में कराग्टम और उत्तर भारत में भांगड़ा ऊर्जावान शैली में नृत्य के लिए जाने जाते हैं। इस तरह के नृत्य का आनंद कोई भी उठा सकता है, चाहे वह किसी भी संस्कृति का हो। जीवन के दूसरे क्षेत्रों के लोगों और नृत्य से जुड़े कलाकारों की एक-दूसरे पर निर्भरता की वजह से नृत्य के जरिए सांस्कृतिक विविधता भी देखने को मिलती है। कई कलाकार अलग-अलग तरह के बरतन और प्लेट का इस्तेमाल भी करते हैं। चूंकि कलाकारों को भी ग्राहकों की जरूरत होती है, इसलिए उनका संवाद तरह-तरह के लोगों से होता है। इस तरह से नृत्य विभिन्न संस्कृतियों का संगम स्थल बन जाता है, जहां अलग-अलग क्षेत्र के लोग नृत्य-नाटक या नृत्य में अपने-अपने ढंग से योगदान करते हैं। यह सिर्फ शो बिजनेस नहीं है। नृत्य अर्थव्यवस्था को भी आगे बढ़ाने में मदद करता है। इसके लिए वेश-भूषा पारंपरिक कपड़ों से तैयार किए जाते हैं। इस वजह से बुनकरों को भी रोजगार मिलता है। कांचीपुरम की गतिविधियां इसका एक उदाहरण है। न सिर्फ नृत्य पेश करने के दौरान पहने जाने वाले कपड़े, बल्कि अभ्यास के वक्त उपयोग किए जाने वाले कपड़ों से भी बुनकरों को आजीविका मिलती है।

आभूषण भी नृत्य से जुड़े कलाकारों की जिंदगी का अहम हिस्सा हैं। यहां भी नृत्य ने बंदिशों को तोड़ा है। मंदिर के आभूषण निर्माता सिर्फ हिंदू नहीं हैं। इसमें काफी मुसलमान भी शामिल हैं। चेन्नई के सबसे पुराने और दुनिया के सबसे मशहूर आभूषण निर्माता कलनजियाम ब्रदर्स इस्लाम को मानते हैं। कलनजियाम ब्रदर्स की दुकान में नृत्य कलाकारों की जरूरतों के सभी सामान मिलते हैं। अब वे अमेरिका जैसे देशों को मंदिरों से जुड़े आभूषण का निर्यात करते हैं। घुंघरू किसी भी नृत्य कलाकार के लिए सबसे महत्वपूर्ण चीज होती है। अगर कोई कलाकार अपनी कला को पेश करता है, तो इसका फायदा घुंघरू बनाने वाले को भी मिलता है। इस तरह, नृत्य जीवन के अलग-अलग क्षेत्रों, संस्कृतियों के लोगों को एकसाथ लाता है। नृत्य सामाजिक हैसियत, धर्म, भाषा और संस्कृति के आधार पर इस बंटी हुई दुनिया को एकजुट करता रहा है। ■

क्षेत्रीय सुरक्षा : भारत-चीन संबंध

डॉ श्रीकांत कोंडापल्ली

क्षेत्रीय सुरक्षा भारत और चीन के बीच निरंतर विवादास्पद मुद्दा रहा है। 1940 के दशक में उभरे नए राष्ट्रों के रूप में, और ब्रिटिश भारत तथा क्विंग राजवंश के उत्तराधिकारी देशों के रूप में, भारत और चीन की सीमाएं अनिर्धारित रही हैं। ब्रिटिश साम्राज्य और क्विंग राजवंश के नुमाइंदों, और दोनों देशों की स्वतन्त्रता के बाद के नेताओं के बीच वार्ताओं के अनेक दौरों के बावजूद, दोनों देशों की सीमाएं कभी परिभाषित, निरूपित और सीमांकित नहीं हो पाई। इसकी वजह से भारत और चीन के बीच अक्सर समस्याएं तथा झड़पें होती रहीं।

इसी पृष्ठभूमि में, 5 मई 2020 से सिक्किम में नाकू ला और पश्चिमी सैक्टर में पेंगोंग त्से (झील) तथा गलवान में पिछले दिनों बढ़े तनाव ने भारत-चीन सम्बन्धों में क्षेत्रीय सुरक्षा से जुड़े मुद्दों को फिर प्रमुखता में ला दिया है। पश्चिमी सैक्टर में गलवान में तो 15 जून को भारतीय सैनिकों की 'पूर्व-नियोजित और योजनाबद्ध' हत्या तक की नौबत आ गई। इस घटना ने दोनों विशाल एशियाई देशों के बीच सीमा-विवाद के नहीं सुलझने के खतरों पर एक बार फिर चिंता बढ़ा दी है।

1940 के दशक के उत्तरार्ध में स्वतन्त्रता के बाद के प्रारम्भिक वर्षों से ही भारत और चीन अपनी क्षेत्रीय सुरक्षा को लेकर चिंतित रहे हैं। दोनों ही देश, एक-दूसरे के साथ, और दूसरे देशों के साथ भी, सम्बन्धों में इस मुद्दे के प्रति संवेदनशील रहे हैं। भारत की महाद्वीपीय स्थल-सीमाएं चीन के अलावा, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, नेपाल, भूटान, बांग्लादेश और म्यांमार से जुड़ती हैं, जबकि श्रीलंका से हमारी सामुद्रिक सीमाएं लगी हैं। 1970 के दशक में, भारत ने थाइलैंड और इंडोनेशिया के साथ अपने समुद्री क्षेत्र से जुड़े मुद्दे सुलझा लिए हैं। यों तो अनेक स्थलीय और समुद्री सीमाओं से जुड़े मुद्दे समय-समय पर उठते रहे हैं, लेकिन मात्र पाकिस्तान को छोड़ कर कहीं भी इस मुद्दे पर बवाल नहीं हुए हैं। भारत और पाकिस्तान के बीच भी नियंत्रण रेखा (एलओसी) को दोनों ही देशों ने स्वीकार कर रखा है।

चीन ने भी, 14 में से 12 देशों से लगी अपनी स्थलीय सीमा के मुद्दे सुलझा लिए हैं। मात्र भारत और भूटान के साथ ये मुद्दे अनसुलझे हैं। हालांकि चीन अपने प्राय: किसी भी पड़ोसी देश – जैसे जापान, कोरिया और दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के साथ सामुद्रिक विवाद नहीं सुलझा सका है और कई बार तो ये विवाद बहुत उग्र भी हुए हैं। स्थलीय सीमा में भी, चीन ने पिछले कुछ समय से रूस के पूर्वी शहर ब्लादीवोस्तक पर अपना दावा फिर से करना शुरू कर दिया है, जिसे लेकर रूस में भी बेचैनी है। चीनी लोग इस शहर को 'हेशेनवाई' कहते हैं और पिछले दिनों चीन के एक पत्रकार शेन शिवेई ने इस सिलसिले में चीन-रूस के पुराने समझौते को 'गैर-बराबरी का समझौता' करार दिया है।

इसी तरह, चीन की लोकप्रिय वेबसाइट www.toutino.com ने तो पूरे किरगिजिस्तान को ही, एतिहासिक दृष्टि से चीन का हिस्सा बताया है। वहीं दूसरी वेबसाइट www.sohu.com ने कज़ाकिस्तान को चीन के इलाकों में बताया है। भूटान के मामले में भी, चीन ने अपना दावा पेश किया है और भूटान द्वारा पूर्वी भूटान के ट्रेशिगांग जिले में साकतेंग अभयारण्य की पर्यावरणीय परियोजना के लिए आवेदन किए जाने पर आपत्ति की है। हालांकि, 1984 से 2016 तक चीन और भूटान के बीच 24 बार सीमा सीमा-वार्ताएं हुई जिनमें चीन ने कभी भी यह दावा नहीं उठाया।

स्पष्ट है कि चीन दूर-दूर तक के इलाकों को लेकर बढ़-चढ़ कर दावे करता रहा है। यह विस्तारवादी मानसिकता और देश में राष्ट्रवाद के दबावों को प्रदर्शित करता है। इस मानसिकता का असर भारत के साथ वास्तविक नियंत्रण रेखा (एलएसी) पर चीन द्वारा समय-समय पर की गई हरकतों में नज़र आता है। अप्रैल-मई 2013 में देप्सांग के मैदानी इलाके, 2014 में चुमार , 2017 के डोकलाम विवाद और पश्चिमी सैक्टर तथा सिक्किम में हुई ताजा घटनाओं में यही प्रवृत्ति नज़र आती है।

जिस दौरान चीन अपनी प्रगति पर ध्यान दे रहा था, उस दौरान वह भारत के साथ शांति बनाए रखने की अनेक व्यवस्थाओं पर सहमत हो गया था। जैसे – 1993 का 'शांति और स्थिरता' (पीस एंड ट्रेंकुएलिटी) समझौता, 1996 का सैन्य क्षेत्र में आपसी विश्वास बढ़ाने वाले उपायों (सीबीएम) पर सहमति, 2005 का सैनिकों द्वारा हथियार साथ नहीं रखने का प्रोटोकॉल और 2013 का सीमा पर गश्त कर रहे सैनिकों पर खुफिया निगरानी (टेलिंग) न करने का सीमा रक्षा सहयोग समझौता (बार्डर डिफेंस कोऑपरेशन एग्रीमेंट)। इनके अलावा, सीमा पर शांति और स्थिरता बनाए रखने के लिए आपसी परामर्श तथा समन्वय की भी व्यवस्था थी। 2012 में इस व्यवस्था की शुरुआत के बाद, इसकी 15 बैठकें हो चुकी थीं। इन सारे उपायों का उद्देश्य संघर्ष रोकना और सीमा पर यथास्थिति बनाए रखना था।

लेकिन 15 जून को 20 भारतीय जवानों के मारे जाने से दोनों देशों के बीच यथास्थिति बदल गई। 1962 के संघर्ष, 1976 में सिक्किम सीमा और 1975 में अरुणाचल प्रदेश में तुलुंगला की झड़पों में ही आखिरी बार सैनिक हताहत हुए थे। लेकिन 2020

लेखक जवाहरलाल विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में चाइनीज स्टडीज़ के प्रोफेसर हैं। ईमेल: srikondapalli@gmail.com

की घटनाओं ने दोनों देशों के बीच सरहदों पर शांति और स्थिरता की स्थिति को ध्वस्त कर दिया। साथ ही, एलएसी के करीब बड़ी संख्या में सेनाओं का जमाव (अनुमानत: दोनों ओर से दो-दो डिवीजन से ज्यादा) भी पिछले प्रोटोकॉल्स में निर्धारित सीमाओं से बहुत ज्यादा हो गया।

5 मई की हाथापाई की घटना के बाद, दोनों देशों के सैन्य कमांडरों की 6 जून, 22 जून और फिर 5 जुलाई 2020 को विशेष प्रतिनिधि (स्पेशल रिप्रेजेंटेटिव्स) स्तर की बातचीत (इस लेख के लिखे जाने तक) हो चुकी है। इन बैठकों में दोनों देशों की सेनाओं के एक-दूसरे के बहुत करीब न आने और स्थिति के तनाव को कम करने के तरीकों पर चर्चा हुई। लेकिन 15 जून के घटना-क्रम में सैनिकों के मारे जाने से 6 जून को तय हुई सैनिकों को पीछे लाने की प्रक्रिया लागू नहीं हो सकी। इसलिए यह महसूस किया गया कि सेनाओं को नियंत्रित करने के लिए राजनैतिक नेतृत्व का हस्तक्षेप ज़रूरी है।

5 जुलाई 2020 को दोनों देशों के विशेष प्रतिनिधियों की बातचीत में तय किया गया कि पश्चिमी सैक्टर में दोनों देशों की सैनिक टुकड़ियों को 'जल्दी से जल्दी पूरी तरह एक-दूसरे के सामने से हटा लिया जाए (अर्लिएस्ट कंप्लीट डिसइंगेजमेंट)।' वार्ता के बाद घोषणा में उम्मीद की गई कि सेनाओं को 'चरणबद्ध तरीके से' (फेज्ड एंड स्टेप-वाइज़) एक-दूसरे के सामने से हटाते हुए और तनाव कम करते हुए (डिसइंगेजमेंट एंड डी-एस्केलेसन) 'पूर्ण शांति बहाल' की जाएगी। यह भी कहा गया कि दोनों पक्ष "वास्तविक नियंत्रण रेखा का सम्मान करेंगे और इसका ध्यान रखेंगे और ऐसी कोई एकतरफा कार्रवाई नहीं करेंगे जिससे यथास्थिति में कोई बदलाव आए।" अगर ये उपाय लागू हो जाते हैं तो सीमाओं पर फिलहाल संघर्ष-विराम हो सकेगा।

भारत और चीन के बीच क्षेत्रीय सुरक्षा का स्थायी हल तभी निकल पाएगा जब सीमा-समस्या का समाधान हो सकेगा, सीमावर्ती इलाकों से सेनाओं की भारी बंदोबस्ती कम हो जाएगी और संबद्ध पक्ष कोई नए और बढ़ा-चढ़ा कर दावे नहीं पेश करेंगे। दोनों देश बातचीत और सीमा-प्रबंधन के जरिए विवादों को सुलझाने का प्रयास करना होगा। लेकिन अब तक इस मामले में प्रगति बहुत कम हुई है अथवा प्रस्तावित समाधान दूसरे पक्ष को संतोषजनक नहीं लगे हैं।

1960 में दोनों पक्षों ने नई दिल्ली, बीजिंग और रंगून में तीन वार्ताएं कीं। रंगून में वार्ता इसलिए रखी गई क्योंकि ब्रिटिश भारत के दौर में बनी मैकमोहन रेखा बर्मा (अब म्यांमार) तक भी जाती है। उस दौर में चीन ने बर्मा के साथ काफी सघन वार्ताएं कीं और जल्दी ही उसके साथ अपनी सीमा का मामला सुलझा लिया। इसके पीछे मुख्य रूप से इरादा यह था कि बर्मा को अमेरिकी नेतृत्व वाले दक्षिण-पूर्व एशियाई संधि संगठन (साउथ-ईस्ट एशियन ट्रीटी ऑर्गनाइजेसन-एसईएटीओ) में शामिल होने से विमुख किया जा सके।

1914 में शिमला कांफ्रेंस के आधार पर मैकमोहन रेखा तय की गई। इस समझौते पर नेशनलिस्ट चाइना के प्रतिनिधि चेन यीफान ने आद्यक्षर किए। चीन के प्रधानमंत्री चाउ एन लाई ने भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू को लिखे अपने 7 नवंबर 1959 के पत्र में पूर्वी सैक्टर में मैकमोहन रेखा और पश्चिमी सैक्टर में दोनों देशों के जमीनी नियंत्रण रेखा का वास्तविक नियंत्रण रेखा (एलएसी) के रूप में उल्लेख किया। 1960 में दोनों प्रधानमंत्रियों की नई दिल्ली में हुई बैठक के दौरान चीनी पक्ष ने मोटे तौर पर अपनी यही स्थिति फिर से पुष्ट की। इसके साथ ही उन्होंने, अपने परिप्रेक्ष्य से, 1954 से 1957 के बीच बनाए गए जिनजियांग से तिब्बत के बीच के राजमार्ग की सुरक्षा पर भी ज़ोर दिया। लेकिन, चीन का इलाकों की अदला-बदली का यह प्रस्ताव कि भारत मैकमोहन रेखा के दक्षिण के इलाकों पर अपना कब्जा बनाए रखे और चीन को अक्साई चीन दे दिया जाए - भारतीय नेतृत्व को स्वीकार नहीं था। इस गतिरोध के बाद ही 1962 का भारत-चीन सीमा-संघर्ष हुआ जिनके दौरान चीन 20 किलोमीटर तक और अंदर घुस आया। इस घटना का इसके बाद बने नक्शों पर बहुत बड़ा असर पड़ा।

1962 की लड़ाई के बाद दोनों देशों के संबंध ठंडे पड़ गए। 1976 में दोनों देशों के बीच राजनयिक संबंध फिर बहाल हुए। सीमाओं पर आपसी विश्वास बनाने के प्रारम्भिक प्रयासों के तौर पर 1978 से पश्चिमी सैक्टर में चुशूल में फ्लैग मीटिंग शुरू हुई। इसके बाद, 1993 में हुए आपसी विश्वास बनाने के प्रयासों (सीबीएम) के समझौते के संयुक्त बयान में पहली बार एलएसी का उल्लेख किया गया।

1980 के दशक के प्रारम्भ से ही क्षेत्रीय विवाद के समाधान के लिए वार्ताओं का दूसरा दौर चला। 1981 से 1987 के बीच आठ बार बात-चीत हुई। दोनों पक्षों ने विवाद सुलझाने का प्रयास किया। पहली वार्ता में क्षेत्रीय विवाद का 'तुरंत' हल निकालने का फैसला लिया गया। लेकिन 1982 में दूसरी सीमा-वार्ता से, चीनी पक्ष विवाद के 'पूर्ण (अल्टिमेट)' समाधान की बात करने लगा। यह इस बात का संकेत था कि बात-चीत लंबी चलने वाली है और अब फोकस सीमा-समस्या के समाधान के बजाय, सीमाओं के प्रबंधन पर रहेगा।

1988 से 2005 तक 15 संयुक्त समूह वार्ताओं का यही विषय (थीम) रहा। 2005 में क्षेत्रीय सुरक्षा संबंधी वार्ताएं 'विशेष प्रतिनिधि' प्रणाली के अंतर्गत होने लगीं। दिसम्बर 2019 तक ऐसी 22 वार्ताएं हो चुकी थीं। बताया जाता है कि ये तीन चरणों में होने वाली वार्ताएं हैं जो 10 मानदंडों पर आधारित दिशा-निर्देशों के दायरे में सम्पन्न होती हैं।

उदाहरण के लिए, कराकोरम पर्वत-श्रेणियों से अरुणाचल प्रदेश तक, दोनों देशों का सीमावर्ती क्षेत्र 3,488 किलोमीटर का है लेकिन इसमें कुछ हिस्सों पर ही विवाद है। इनमें पश्चिमी सैक्टर का 1,680 किलोमीटर का इलाका है जिसमें पेंगोंग झील, ट्रिग हाइट्स, समर लुंगपा, डेमचोक, चुशूल, देप्सांग बल्ज़ और पिछले दशक में जुड़ा हिमाचल-उत्तराखंड सीमा का चुमार इलाका शामिल है। चुमार चीन द्वारा 'नया जोड़ा हुआ' दावा है जिसका चीनियों ने पहले विवादग्रस्त इलाकों में शुमार नहीं किया था। इसी तरह, गलवान इलाके को पहले विवादग्रस्त नहीं बताया गया था लेकिन ताज़ा हिंसक झड़पों वाला यह इलाका, 1962 के बाद पहली बार, विवादास्पद करार दिया गया है।

मध्यवर्ती (मिडिल) सैक्टर 545 किलोमीटर लंबा है। इसमें तीन क्षेत्र विवादग्रस्त हैं। ये हैं - बरहोते, कौरिल और शिपकी। यह सैक्टर सबसे कम विवादग्रस्त है। वास्तव में, इस सैक्टर में दोनों देशों के एक अनौपचारिक सहमति है।

पूर्वी सैक्टर 1,126 किलोमीटर लंबा है और इसमें ये 6 इलाके विवादग्रस्त हैं - लोंगीयु, असाफिला, नामका चू, सामदुरोंग चू, चांतजे और मिग्युतुन। इस सैक्टर में भारत मैकमोहन रेखा को अपनाने पर ज़ोर देता रहा है लेकिन चीन तवांग इलाके में रियायत चाहता है और इसके पक्ष में 16वीं शताब्दी के दलाई लामा का जन्म-स्थान होने का धार्मिक तर्क देता है। 2017 में चीन के विशेष प्रतिनिधि दाई बिंगुओ ने कहा था कि विवाद को सुलझाने के लिए यह रियायत ज़रूरी है। लेकिन भारत को यह स्वीकार्य नहीं है और वैसे भी, इस क्षेत्र से वर्षों से निर्वाचित प्रतिनिधि आते रहे हैं। गलवान की तरह ही, सिक्किम के इलाके में नाथू ला-चो ला-जेलप ला में 1967 में हिंसक मुठभेड़ हुई जिसमें करीब 400 चीनी सैनिक मारे गए थे। इसी इलाके के भूटान-चीन सीमावर्ती डोकलाम क्षेत्र में 2017 में गतिरोध रहा। सिक्किम क्षेत्र कभी विवादग्रस्त नहीं रहा क्योंकि क्विंग राजवंश के साथ 1890 में हुई संधि में सीमा को वैध रूप दे दिया गया। हालांकि दोनों पक्षों की विधायिकाओं में इस संधि की कभी पुष्टि नहीं की गई।

क्षेत्रीय विवाद सुलझाने में अड़चन का एक पक्ष स्थानीय भू-राजनीति से जुड़े आपसी समीकरणों का भी है। उदाहरण के लिए, पश्चिमी सैक्टर में विवाद इसलिए भी ज्यादा हैं क्योंकि यहां सीमाएं अफगानिस्तान और पाकिस्तान से लगी हैं। चीन के रुख से जुड़ा एक पक्ष 1960 से लगातार उसकी पाकिस्तान के साथ हर हाल में 'सदाबहार' दोस्ती भी है। इसके साथ ही, 2014 से चलाया जा रहा चीन-पाकिस्तान आर्थिक कॉरिडोर के साथ चीन का 'बेल्ट एंड रोड इनिसिएटिव' भी क्षेत्रीय विवाद से जुड़ा एक बड़ा कारक है।

द्विपक्षीय स्तर पर भी, क्षेत्रीय सीमाओं की परिभाषाओं को लेकर दोनों देशों के बीच बड़े मतभेद हैं और आपस में नक्शों का आदान-प्रदान करने और विवादों से दायरे से जुड़े मसौदे को अंतिम रूप देने की भी इच्छा नहीं है। उदाहरण के तौर पर, चीन की 4 अगस्त 1962 की एक टिप्पणी में कहा गया था कि भारत ने चिप चाप, गलवान और स्योक नदी घाटियों में 27 सैन्य चौकियां बना लीं, लेकिन इन चौकियों की स्थिति का कोई भी विवरण नहीं दिया गया। इसी टिप्पणी में कहा गया था कि चीन ने 1956 में भारत को दोनों देशों के बीच पश्चिमी सैक्टर में सीमा का रेखांकन करते हुए एक नक्शा दिया था। जवाब में, 8 अगस्त 1962 को भारत की टिप्पणी में कहा गया कि चीनी पक्ष ने जिन चौकियों का उल्लेख किया है, वे सभी भारतीय क्षेत्र में हैं और ये चौकियां पूरी तरह 'सुरक्षा के उद्देश्य से हैं।' भारत की टिप्पणी में चीन पर भारतीय क्षेत्र में घुसपैठ और आपूर्ति प्रणाली में बाधाएं पंहुचाने का आरोप लगाया गया था। इसके बाद, 22 अगस्त 1962 को भारत की टिप्पणी में इस बात पर विरोध दर्ज किया गया था कि चीन ने 'भारतीय क्षेत्र के बहुत भीतर' 18 नई 'आक्रामक' सैन्य चौकियां बना ली हैं। भारत ने चिप चाप, गलवान, पंगोंग झील-स्पांगुर और क़रा कास इलाकों में अक्षांश और देशांतर बिन्दुओं सहित इन चौकियों की स्थिति स्पष्ट की थी। ये 18 चौकियां चीन द्वारा पहले ही बना ली गई उन 9 चौकियों के अलावा थीं जिनको लेकर भारत की 12 जुलाई 1962 की टिप्पणी में विरोध दर्ज कराया गया था।

भारत की 22 अगस्त 1962 की टिप्पणी में इस बात पर क्षोभ व्यक्त किया गया था कि "चीन निरंतर आक्रामक गतिविधियां करते हुए समय-समय पर नए-नए सीमावर्ती इलाकों पर दावे कर रहा है और फिर भारतीय क्षेत्र में नई-नई घुसपैठ करता जा रहा है। इन बदलते दावों की कोई प्रासंगिकता नहीं है, सिवाय इस बात के कि ये इस क्षेत्र में चीन के विस्तारवादी मंसूबों और लद्दाख क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय सीमा को लेकर चीन सरकार के मन में व्याप्त भ्रम को व्यक्त करते हैं।" इस टिप्पणी में यह भी स्पष्ट किया गया था कि दोनों देशों के बीच अंतरराष्ट्रीय सीमा कराकोरम दर्रे से श्योक (सिंधु प्रणाली की नदी) और यारकन्द के जलविभाजक (वाटरशेड) के साथ-साथ गुजरती है और कारा ताघ दर्रे (देशांतर 78-20' पूर्व और अक्षांश 35-43' उत्तर) से होकर कारा काश नदी के पूर्वी मोड़ (हाजी लंगर के उत्तर-पूर्व में) से गुजर कर मुख्य कुएन लुन पर्वतों तक चढ़ती है। इसके बाद, सीमा युरुङ्काश नदी-घाटी को अक्साई चीन की झीलों को अलग करने वाली पर्वत-चोटियों के बीच के यांगी दर्रे (देशांतर 79-25' पूर्व और अक्षांश 35-55' उत्तर) से गुजरती है। यह कुएन लुन पर्वत की मुख्य चोटी से देशांतर 80-21' पूर्व से दक्षिण-पश्चिम दिशा में उतरती है और लनाक दर्रे के निचले हिस्से (देशांतर 79-34' पूर्व और अक्षांश 34-24' उत्तर) में भारत में अगतोगर तथा सरियाग जिलगनांग झीलों के थालों (बेसिन्स) को तिब्बत में लेघटन त्सोघर झीलों के थालों से अलग करती है।"

और अंत में, भारत और चीन के बीच क्षेत्रीय सुरक्षा से जुड़े इस विवाद को सुलझाने के सिद्धांत तय किए जाने हैं। इस मामले में भी एक बड़ी असहमति है। भारत का मानना है कि विवाद का 'न्यायपूर्ण, तर्कसंगत और दोनों पक्षों को स्वीकार्य' समाधान निकाला जाना चाहिए। हालांकि 1962 के सीमा-संघर्ष के बाद भारत की संसद ने 'एक-एक इंच भूमि वापस लेने' का संकल्प किया था। इसके साथ ही, भारत के लिए स्थायी क्षेत्रीय सुरक्षा का मुद्दा इस विवाद के दोनों पक्षों की परस्पर और समान सुरक्षा से जुड़ा है। सीमावर्ती क्षेत्र के हिमालय के दुर्गम इलाके में होने के भूगोल को देखते हुए, भारत का मानना है कि सेनाओं को हटाने की किसी भी कार्रवाई में इस क्षेत्र की स्थिति को ध्यान में रखना होगा; भौगोलिक इलाकों के मात्र नाम गिनाना पर्याप्त नहीं होगा।

दूसरी ओर, चीन 'परस्पर समझ और परस्पर समायोजन' (म्यूचुअल अंडरस्टैंडिंग एंड म्यूचुअल एकोमोडेशन) की प्राथमिकता सुझाता है। यह भारत को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि चीनी पेशकश के साथ स्वतंत्र विदेश नीति को प्रभावित करने वाले निहितार्थ जुड़े हैं।

भारत और चीन के सीमावर्ती इलाकों में पिछले कुछ वर्षों से काफी हलचल और सीमाओं के अतिक्रमण के मामले हुए हैं। इनमें 2013 में देप्सांग प्लेन्स में, 2014 और 2015 में चुमार में, 2017 में डोकलाम में और पिछले दिनों गलवान-पांगोंग झील इलाके में हुई घटनाएं शामिल हैं। सीमा विवाद पर अनेक दशकों से चल रही वार्ताओं और सीमावर्ती इलाकों में परस्पर विश्वास बढ़ाने वाले प्रयासों के बावजूद सैन्य जमाव और हिंसा की ताज़ा घटनाओं के आपसी संबंधों और क्षेत्रीय सुरक्षा से जुड़े दूरगामी परिणाम हो सकते हैं। इसलिए यह ज़रूरी है कि, इस महाद्वीप में शांति और स्थिरता सुनिश्चित करने के लिए ये दोनों एशियाई महाशक्तियां अपने क्षेत्रीय मुद्दों को सुलझा लें। ■

पारंपरिक नाट्य मंच

भारतीय समाज में पारंपरिकता का विशेष स्थान है। परंपरा एक सहज प्रवाह है। निश्चय ही, पारंपरिक कलाएं समाज की जिजीविषा, संकल्पना, भावना, संवेदना तथा ऐतिहासिकता को अभिव्यक्त करती हैं। नाटक अपने आप में संपूर्ण विधा है, जिसमें अभिनय, संवाद, कविता, संगीत इत्यादि एक साथ उपस्थित रहते हैं।

पारंपरिक रूप से लोक की भाषा में सृजनात्मकता सूत्रबद्ध रूप में या शास्त्रीय तरीके से नहीं, अपितु बिखरे, छितराये, दैनिक जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप होती है। जीवन के सघन अनुभवों से जो सहज लय उत्पन्न होती है, वही अंततः लोकनाटक बन जाती है। उसमें दुःख, सुख, हताशा, घृणा, प्रेम आदि मानवीय प्रसंग आते हैं। पारंपरिक नाट्य की विशिष्टता उसकी सहजता है। आखिर क्या बात है कि शताब्दियों से पारंपरिक नाट्य जीवित रहने तथा सादगी बनाए रखने में समर्थ सिद्ध हुए हैं? सच तो यह है कि दर्शक जितना शीघ्र, सीधा, वास्तविक तथा लयपूर्ण संबंध पारंपरिक नाट्य से स्थापित कर पाता है, उतना अन्य कला रूपों से नहीं। दर्शकों की ताली, वाह-वाही उनके संबंध को दर्शाती है।

दरअसल, पारंपरिक नाट्यशैलियों का विकास स्थानीय या क्षेत्रीय विशिष्टता के आधार पर हुआ। पारंपरिक लोकनाट्यों में स्थितियों में प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने के लिए पात्र मंच पर अपनी जगह बदलते रहते हैं। इससे एकरसता भी दूर होती है। अभिनय के दौरान अभिनेता व अभिनेत्री प्रायः उच्च स्वर में संवाद करते हैं। शायद इसकी वजह दर्शकों तक अपनी आवाज़ सुविधाजनक तरीके से पहुंचानी है।

विविध पारंपरिक नाट्य शैलियां

भांड-पाथर : भांड-पाथर, कश्मीर का पारंपरिक नाट्य है। यह नृत्य, संगीत और नाट्यकला का अनूठा संगम है। इसमें हंसने और हंसाने को प्राथमिकता दी गयी है। संगीत के लिए सुनाई, नगाड़ा और ढोल इत्यादि का प्रयोग किया जाता है।

स्वांग : स्वांग, मूलतः स्वांग में पहले संगीत का विधान रहता था, परन्तु बाद में गद्य का भी समावेश हुआ। इसमें भावों की कोमलता, रससिद्धि के साथ-साथ चरित्र का विकास भी होता है। स्वांग की दो शैलियां (रोहतक तथा हाथरस) उल्लेखनीय हैं। रोहतक शैली में हरियाणवी (बांगरू) भाषा तथा हाथरसी शैली में ब्रजभाषा की प्रधानता है।

नौटंकी : नौटंकी उत्तर प्रदेश से सम्बंधित है। इसकी कानपुर, लखनऊ तथा हाथरस शैलियां प्रसिद्ध हैं। इसमें प्रायः दोहा, चौबोला, छप्पाय, बहर-ए-तबील छंदों का प्रयोग किया जाता है। पहले नौटंकी में पुरुष ही स्त्री से पात्रों का अभिनय करते थे, अब स्त्रियां भी काफी मात्रा में इसमें भाग लेने लगी हैं।

रासलीला : रासलीला में कृष्ण की लीलाओं का अभिनय होता है। ऐसी मान्यता है कि रासलीला सम्बंधी नाटकों की सर्वप्रथम रचना नंददास द्वारा की गई। इसमें गद्य-संवाद, गेय पद और लीला दृश्य का उचित योग है। इसमें तत्सम के बदले तद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग होता है।

भवाई : भवाई, गुजरात और राजस्थान की पारंपरिक नाट्यशैली है। इसका विशेष स्थान कच्छ-काठियावाड़ माना जाता है। इसमें भुंगल, तबला, ढोलक, बांसुरी, पखावज, रबाब, सारंगी, मंजीरा इत्यादि वाद्ययंत्रों का प्रयोग होता है। भवाई में भक्ति और रूमान का अद्भुत मेल देखने को मिलता है।

जात्रा : जात्रा, देवपूजा के निमित्त आयोजित मेलों, अनुष्ठानों आदि से जुड़े नाट्यगीतों को 'जात्रा' कहा जाता है। यह मूल रूप से बंगाल में पला-बढ़ा है। वस्तुतः श्री चैतन्य के प्रभाव से कृष्णा-जात्रा बहुत लोकप्रिय हो गयी थी। बाद में इसमें लौकिक प्रेम प्रसंग भी जोड़े गए। इसका प्रारंभिक रूप संगीतपरक रहा है।

माच : माच, मध्य प्रदेश का पारंपरिक नाट्य है। 'माच' शब्द मंच और खेल दोनों अर्थों में इस्तेमाल किया जाता है। माच में पद्य की अधिकता होती है। इसके संवादों को बोल तथा छंद योजना को वणग कहते हैं। इसकी धुनों को रंगत के नाम से जाना जाता है।

भाओना : भाओना, असम के अंकिया नाट की प्रस्तुति है। इस शैली में असम, बंगाल, ओडिशा, वृंदावन-मथुरा आदि की सांस्कृतिक झलक मिलती है। इसका सूत्रधार दो भाषाओं में अपने को प्रकट करता है- पहले संस्कृत, बाद में ब्रजबोली अथवा असमिया में।

तमाशा : तमाशा महाराष्ट्र की पारंपरिक नाट्यशैली है। इसके पूर्ववर्ती रूप गोंधल, जागरण व कीर्तन रहे होंगे। तमाशा लोकनाट्य में नृत्य क्रिया की प्रमुख प्रतिपादिका स्त्री। कलाकार होती है। वह 'मुरकी' के नाम से जानी जाती है। नृत्य के माध्यम से शास्त्रीय संगीत, वैद्युतिक गति के पदचाप, विविध मुद्राओं द्वारा सभी भावनाएं दर्शाई जा सकती हैं।

दशावतार : दशावतार कोंकण व गोवा क्षेत्र का अत्यंत विकसित नाट्य रूप है। प्रस्तोता पालन व सृजन के देवता-भगवान विष्णु के दस अवतारों को प्रस्तुत करते हैं। दस अवतार हैं- मत्स्य, कूर्म, वराह,

केरल का लोकनाट्य कृष्णाट्टम। आठ नाटकों का वृत्त 'कृष्णाट्टम' भगवान श्रीकृष्ण थीम पर आधारित होता है जो क्रमागत रूप में आठ दिन प्रस्तुत किया जाता है

नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण (या वलराम), बुद्ध व कल्कि। शैलीगत साजसिंगार से परे दशावतार का प्रदर्शन करने वाले लकड़ी व पेपरमेशे का मुखौटा पहनते हैं।

कृष्णाट्टम : केरल का लोकनाट्य कृष्णाट्टम 17वीं शताब्दी के मध्य कालीकट के महाराज मनवेदा के शासन के अधीन अस्तित्व में आया। कृष्णाट्टम आठ नाटकों का वृत्त है, जो क्रमागत रूप में आठ दिन प्रस्तुत किया जाता है। नाटक हैं- अवतारम्, कालियमर्दन, रासक्रीड़ा, कंसवधाम् स्वायंवरम्, वाणयुद्धम्, विविधविधम्, स्वर्गारोहण। वृत्तांत भगवान कृष्ण को थीम पर आधारित हैं- श्रीकृष्ण जन्म, बाल्यकाल तथा बुराई पर अच्छाई के विजय को चित्रित करते विविध कार्य।

मुडियेट्टु : केरल के पारंपरिक लोकनाट्य मुडियेट्टु का उत्सव वृश्चिकम् (नवम्बर-दिसम्बर) मास में मनाया जाता है। यह प्राय: देवी के सम्मवन में केरल के केवल काली मंदिरों में प्रदर्शित किया जाता है। यह असुर दारिका पर देवी भद्रकाली की विजय को चित्रित करता है। गहरे साज-सिंगार के आधार पर सात चरित्रों का निरूपण होता है- शिव, नारद, दारिका, दानवेन्द्र, भद्रकाली, कूलि, कोइम्बिदार (नंदिकेश्वर)।

कुटियाट्टम : कुटियाट्टम, जो कि केरल का सर्वाधिक प्राचीन पारंपरिक लोक नाट्य रुप है, संस्कृत नाटकों की परंपरा पर आधारित है। इसमें ये चरित्र होते हैं- चाक्यार या अभिनेता, नांब्यावर या वादक तथा नांग्यार या स्त्री पात्र। सूत्रधार और विदूषक भंक्कुटियाट्टम् के विशेष पात्र हैं। हस्तमुद्राओं तथा आंखों के संचलन पर बल देने के कारण यह नृत्य एवं नाट्य रूप विशिष्ट बन जाता है।

यक्षगान : कर्नाटक का पारंपरिक नाट्य रूप यक्षगान मिथकीय कथाओं तथा पुराणों पर आधारित है। मुख्य लोकप्रिय कथानक, जो महाभारत से लिये गये हैं, इस प्रकार हैं : द्रौपदी स्वयंवर, सुभद्रा विवाह, अभिमन्यु वध, कर्ण-अर्जुन युद्ध तथा रामायण के कथानक हैं : लवकुश युद्ध, बालिसुग्रीव युद्ध और पंचवटी।

तेरुक्कुत्तु : तमिलनाडु की पारंपरिक लोकनाट्य कलाओं में तेरुक्कुत्तु अत्यंत जनप्रिय माना जाता है। इसका सामान्य शाब्दिक अर्थ है- सड़क पर किया जाने वाला नाट्य। यह मुख्यत: मारियम्मदन और द्रौपदी अम्मा के वार्षिक मंदिर उत्सव के समय प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार, तेरुक्कुत्तु के माध्यम से संतान की प्राप्ति और अच्छी फसल के लिए दोनों देवियों की आराधना की जाती है। तेरुक्कुत्तु के विस्तृत विषय-वस्तु के रूप में मूलत: द्रौपदी के जीवन-चरित्र से सम्बंधित आठ नाटकों का यह चक्र होता है।

(स्रोत: http://ccrtindia.gov.in/hs/theatreforms.php सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार)

भारत की लोक और जनजातीय कला

हमेशा से ही भारत की कलाएं और हस्तशिल्प इसकी सांस्कृतिक और परम्परागत प्रभावशीलता को अभिव्यक्त करने का माध्यम बने रहे हैं। इसके राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों की अपनी विशेष सांस्कृतिक और पारम्परिक पहचान है, जो वहां प्रचलित कला के भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देती है। भारत के हर प्रदेश में कला की अपनी एक विशेष शैली और पद्धति है जिसे लोक कला के नाम से जाना जाता है। लोककला के अलावा भी परम्परागत कला का एक अन्य रूप है जो अलग-अलग जनजातियों और देहात के लोगों में प्रचलित है। इसे जनजातीय कला के रूप में वर्गीकृत किया गया है। भारत की लोक और जनजातीय कलाएं बहुत ही पारम्परिक और साधारण होने पर भी इतनी सजीव और प्रभावशाली है कि उनसे देश की समृद्ध विरासत का अनुमान स्वत: हो जाता है।

भारत की ग्रामीण लोक चित्रकारी के डिज़ाइन बहुत ही सुन्दर हैं जिसमें धार्मिक और आध्यात्मिक चित्रों को उभारा गया है। भारत की सर्वाधिक प्रसिद्ध लोक चित्रकलाएं हैं बिहार की मधुबनी चित्रकारी, ओडिशा राज्य की पत्ताचित्र चित्रकारी, आन्ध्र प्रदेश की निर्मल चित्रकारी और इसी तरह लोक कला के अन्य रूप हैं। तथापि, लोक कला केवल चित्रकारी तक ही सीमित नहीं है। इसके अन्य रूप भी हैं जैसे कि मिट्टी के बर्तन, गृह सज्जा, जेवर, कपड़ा डिज़ाइन आदि। कला के उत्थान के लिए किए गए भारत सरकार और अन्य संगठनों के सतत प्रयासों की वजह से ही लोक कला की भांति जनजातीय कला में पर्याप्त रूप से प्रगति हुई है।

तंजौर कला

यह लोक कला कहानी किस्से सुनाने की विस्मृत कला से जुड़ी है। भारत के हर प्रदेश मे चित्रों का प्रयोग किसी बात की अभिव्यक्ति दृश्य चित्रण के माध्यम से करने के लिए किया जाता है जो कथन का ही एक प्रतिपक्षी रूप है। राजस्थान, गुजरात और बंगाल के ये कला रूप स्थान विशेष के वीरों और देवताओं की पौराणिक कथाएं सुनाती हैं और हमारे प्राचीन वैभव और भव्य सांस्कृतिक विरासत का चित्रण किया है।

एक राजसी विरासत वाले धार्मिक चित्र तंजावर चित्रकारी, जिसे अब तंजौर चित्रकारी के नाम से जाना जाता है, की सर्वोत्तम परिभाषा है। तंजौर की चित्रकारी महान पारम्परिक कला रूपों में से है जिसने भारत को विश्व प्रसिद्ध बनाया है। इनका विषय मूलत: पौराणिक है। चेन्नई से 300 कि.मी. दूर तंजावुर में शुरू हुई यह कला चोल साम्राज्य के राज्यकाल में सांस्कृतिक विकास की ऊंचाई पर पहुंची। इसके बाद आने वाले शासकों के संरक्षण में यह कला आगे और समृद्ध हुई। शुरू में ये भव्य चित्र राजभवनों की शोभा बढ़ाते थे लेकिन बाद में ये घर-घर में सजने लगे।

कला और शिल्प दोनों का एक विलक्षण मिश्रित रूप तंजौर की इस चित्रकारी का विषय मुख्य रूप से हिन्दू देवता और देवियां हैं। तंजौर चित्रकारी की मुख्य विशेषताएं उनकी बेहतरीन रंग सज्जा, रत्नों और कांच से गढ़े गए सुन्दर आभूषणों की सजावट और उल्लेखनीय स्वर्णपत्र का काम हैं। आजकल, असली रत्न-मणियों की जगह अर्द्ध-मूल्यवान रत्नों का प्रयोग किया जाता है पर स्वर्ण-पत्र का प्रयोग नहीं बदला है।

मधुबनी चित्रकारी

मधुबनी चित्रकारी, जिसे मिथिला की कला (क्योंकि यह बिहार के मिथिला प्रदेश में पनपी थी) भी कहा जाता है, की विशेषता चटकीले और विषम रंगों से भरे गए रेखा-चित्र अथवा आकृतियां हैं। इस तरह की चित्रकारी पारम्परिक रूप से इस प्रदेश की महिलाएं ही करती आ रही हैं लेकिन आज इसकी बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए पुरुष भी इस कला से जुड़ गए हैं। ये चित्र अपने आदिवासी रूप और चटकीले और मटियाले रंगों के प्रयोग के कारण लोकप्रिय हैं। इस चित्रकारी में शिल्पकारों द्वारा तैयार किए गए खनिज रंजकों का प्रयोग किया जाता है। इन चित्रों में जिन प्रसंगों और डिजाइनों का भरपूर चित्रण किया गया है वे हिन्दू देवी-देवताओं से संबंधित हैं जैसे कि कृष्ण, राम, शिव, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, सूर्य और चन्द्रमा, तुलसी के पौधे, राजदरबारों के दृश्य, सामाजिक समारोह आदि। इसमें खाली स्थानों को भरने के लिए फूल-पत्तियों, पशुओं और पक्षियों के चित्रों, ज्यामितीय डिजाइनों का प्रयोग किया जाता है। यह हस्तकौशल एक पीढ़ी को सौंपती आई है, इसलिए इनके पारम्परिक डिजाइनों और नमूनों को पूरी तरह से सुरक्षित रखा जाता है।

वार्ली लोक चित्रकला

महाराष्ट्र अपनी वार्ली लोक चित्रकला के लिए प्रसिद्ध है। वार्ली एक बहुत बड़ी जनजाति है जो पश्चिमी भारत के मुम्बई शहर

के उत्तरी ब्रह्मांचल में बसी है। भारत के इतने बड़े महानगर के इतने निकट बसे होने के बावजूद वार्ली के आदिवासियों पर आधुनिक शहरीकरण कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। 1970 के प्रारम्भ में पहली बार वार्ली कला के बारे में पता चला। वार्ली, महाराष्ट्र की वार्ली जनजाति की रोजमर्रा की जिंदगी और सामाजिक जीवन का सजीव चित्रण है। यह चित्रकारी वे मिट्टी से बने अपने कच्चे घरों की दीवारों को सजाने के लिए करते थे। लिपि का ज्ञान नहीं होने के कारण लोकवार्ताओं (लोक साहित्य) के आम लोगों तक पहुंचाने को यही एकमात्र साधन था। शैली की दृष्टि से देखें तो उनकी पहचान यही है कि ये साधारण-सी मिट्टी के बेस पर मात्र सफेद रंग से की गई चित्रकारी है जिसमें यदा-कदा लाल और पीले बिन्दु बना दिए जाते है। यह सफेद रंग चावल को बारीक पीस कर बनाया गया सफेद चूर्ण होता है। रंग की इस सादगी की कमी इसके विषय की प्रबलता से ढक जाती है। इसके विषय बहुत ही आवृत्ति और प्रतीकात्मक होते हैं।

पत्ताचित्र चित्रकारी

चित्रकारी की पत्ताचित्र शैली ओडिशा की सबसे प्राचीन और सर्वाधिक लोकप्रिय कला का एक रूप है। पत्ताचित्र का नाम संस्कृत के पत्ता जिसका अर्थ है कैनवास और चित्र जिसका अर्थ है तस्वीर शब्दों से मिलकर बना है। इस प्रकार पत्ताचित्र कैनवास पर की गई एक चित्रकारी है जिसे चटकीले रंगों का प्रयोग करते हुए सुन्दर तस्वीरों और डिजाइनों में तथा साधारण विषयों को व्यक्त करते हुए प्रदर्शित किया जाता है जिनमें अधिकांशत: पौराणिक चित्रण होता है। इस कला के माध्यम से प्रदर्शित एक कुछ लोकप्रिय विषय है: बाधिया-जगन्नाथ मंदिर का चित्रण; कृष्ण लीला-जगन्नाथ का भगवान कृष्ण के रूप में छवि जिसमें बाल रूप में उनकी शक्तियों को प्रदर्शित किया गया है; दसावतार पति-भगवान विष्णु के दस अवतार; पंचमुखी-पांच सिरों वाले देवता के रूप में श्री गणेश जी का चित्रण। सबसे बढ़कर विषय ही साफ तौर पर इस कला का सार है जो इस चित्रों अर्थ को परिकल्पित करते हैं।

पेंट तैयार करना संभवत: पत्ताचित्र बनाने का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है जिसमें प्राकृतिक रूप में उपलब्ध कच्ची सामग्री को पेंट का सही रूप देने में चित्रकारों की शिल्पकारिता का प्रयोग होता है। केंथा वृक्ष की गोंद इसकी

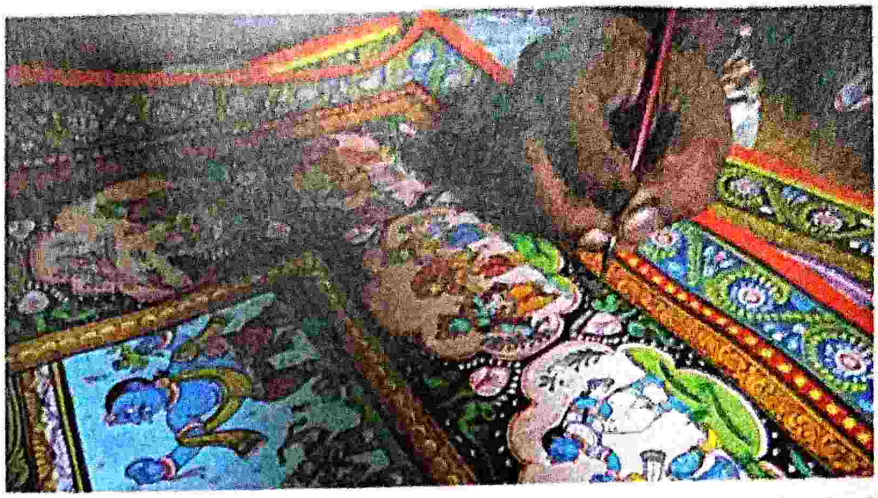

मुख्य सामग्री है और भिन्न-भिन्न तरह के रंग द्रव्य तैयार करने के लिए एक बेस के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

वास्तव में चित्रों में उभारी गई आकृतियों के भावों का प्रदर्शन ही इस कला का सुन्दरतम रूप है जिसे चित्रकार पूरे यत्न से सुन्दर रंगों से सजाकर श्रेष्ठ रूप में प्रस्तुत करते हैं।

समय के साथ-साथ पत्ताचित्र की कला में उल्लेखनीय क्रांति आई है। चित्रकारों ने टस्सर सिल्क और ताड़पत्रों पर चित्रकारी की है और दीवारों पर लटकाए जाने वाले चित्र तथा शो पीस भी बनाए हैं।

राजस्थानी लघु चित्रकारी

भारत में लघु चित्रकारी की कला का प्रारम्भ मुगलों द्वारा किया गया जो इस भव्य अलौकिक कला को फ़राज (पार्शिया) से लेकर आए थे। छठी शताब्दी में मुगल शासक हुमायुं ने फराज से कलाकारों को बुलवाया जिन्हें लघु चित्रकारी में विशेषज्ञता प्राप्त थी। उनके उत्तराधिकारी मुगल बादशाह अकबर ने इस भव्य कला को बढ़ावा देने के प्रयोजन से उनके लिए एक शिल्पशाला बनवाई। इन कलाकारों ने अपनी ओर से भारतीय कलाकारों को इस कला का प्रशिक्षण दिया जिन्होंने मुगलों के राजसी और रोमांचक जीवन-शैली से प्रभावित होकर एक नई विशेष तरह की शैली में चित्र तैयार किए। भारतीय कलाकारों द्वारा अपने इस खास शैली में तैयार किए गए विशेष लघु चित्रों को राजपूत अथवा राजस्थानी लघु चित्र कहा जाता है। इस काल में चित्रकला के कई स्कूल शुरू किए गए, जैसे कि मेवाड़ (उदयपुर), बंदी, कोटा, मारवाड़ (जोधपुर), बीकानेर, जयपुर और किशनगढ़।

यह चित्रकारी बड़ी सावधानी से की जाती है और हर पहलू को बड़ी बारीकी से चित्रित किया जाता है। मोटी-मोटी रेखाओं से बनाए गए चित्रों को बड़े सुनियोजित ढंग से गहरे रंगों से सजाया जाता है।

राजस्थान का किशनगढ़ प्रान्त अपनी बनी ठनी चित्रकारी के लिए प्रसिद्ध है। यह बिल्कुल भिन्न शैली है जिसमें बहुत बड़ी-बड़ी आकृतियों को चित्रित किया जाता है जैसे कि गर्दन, बादाम के आकार की आंखें और लम्बी-लम्बी अंगुलियां। आज भी बहुत से कलाकार रेशम, हाथीदंत, सूती कपड़े और कागज पर लघु चित्रकारी करते आ रहे हैं। लेकिन समय के साथ-साथ प्राकृतिक रंगों की जगह अब पोस्टर रंगों का प्रयोग होने लगा है।

कालमेजुथु

रंगोली और कोलम आदि जैसे नाम हम लोगों के लिए नए नहीं हैं और न ही घरों और मंदिरों के प्रवेश द्वार पर इनके चित्रांकन की परम्परा ही नई है। कालम (कालमेजुथु) इस कला का एक विचित्र रूप है जो केरल में दिखाई देता है। यह अनिवार्य रूप से एक आनुष्ठानिक कला है जिसका प्रचलन केरल के मंदिरों और पावन उपवनों में काली देवी और भगवान के चित्र बनाए जाते हैं। कालमेजुथु के चित्रण प्राकृतिक रंग द्रव्यों और चूर्णों का प्रयोग किया जाता है और सामान्यत: ये पांच रंगों में होते हैं। चित्र केवल हाथों से बनाए जाते हैं और इनमें किसी अन्य का प्रयोग नहीं होता। तस्वीर बनाने का कार्य मध्य से शुरू किया जाता है और फिर एक-एक खण्ड तैयार करते हुए इसे बाहर की ओर ले जाते हैं। 'कालम' पूरा होने पर देवता की उपासना की जाती है। उपासना में कई तरह के संगीत वाद्यों (नामत: इलाथलम, वीक्कप चेन्दान, कुझाल, कोम्बु और चेन्दा) को बजाते हुए भक्ति गीत गाए जाते हैं।

स्रोत- https://knowindia.gov.in

स्वतंत्रता दिवस पर विशेष

राष्ट्रीय ध्वज का निर्माण

बसवप्रभु होसकेरी

उत्तर कर्नाटक में धारवाड़ के पास गर्ग नाम का एक गांव तिरंगे अर्थात् भारत के राष्ट्रीय ध्वज का पर्याय बन गया है। यह गांव एक समय ब्रिटिश शासन के दौरान देशभक्ति का केंद्र था और महात्मा गांधी से बहुत प्रभावित था। राष्ट्रवादी भावना को जीवित रखने के लिए, धारवाड़ के कई स्वतंत्रता सेनानियों ने 1956 में एक गैर-लाभकारी खादी उत्पादक इकाई 'धारवाड़ तालुक सेवा संघ' (गर्ग केंद्र का पूर्व नाम) का गठन किया। संभवतः इसी माहौल ने गांव में खादी बुनने की नींव रखी। शुरुआत में साधारण खादी का उत्पादन किया जा रहा था। परन्तु, 60 के दशक के उत्तरार्ध में, जब देश में राष्ट्रीय ध्वज के कपड़े की कमी महसूस की गई, तब गर्ग खादी केंद्र झंडा बनाने के काम में जुट गया। 70 के दशक के शुरू में, यह केंद्र पूर्णकालिक आधार पर झंडा बनाने के काम में लग गया। यहां के कताईकर्ताओं ने देशभक्ति के धागे बुने और बुनकरों ने राष्ट्रीय सम्मान का वस्त्र बुना।

'धारवाड़ तालुक गर्ग क्षेत्रीय सेवा संघ' एक खादी उत्पादन केन्द्र है, जो मुख्य रूप से राष्ट्रीय ध्वज के निर्माण के लिए प्रमाणित वस्त्र के उत्पादन में संलग्न है। यह केन्द्र एक पंजीकृत सोसायटी है, जो 1956 से भारत सरकार के खादी एवं ग्राम उद्योग आयोग के तत्वावधान में काम कर रही है।

ध्वज के लिए वस्त्र का निर्माण कोई आसान काम नहीं है, क्योंकि झंडे के निर्माण के लिए एक कड़ी संहिता पद्धति में वर्णित सभी नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है। सबसे पहले सरकार द्वारा संचालित चित्रदुर्ग सिल्वर इकाई से स्वदेशी सूत लाया जाता है, जो नए मॉडल के चरखे पर हाथ से कता हुआ होता है। बाद में उपयुक्त वस्त्र बनाने के लिए उसमें मैदा, प्राकृतिक राल और नीम के मिश्रण से कलफ़ लगाया जाता है। इसके बाद धागे को एक बॉबिन पर अटेरा जाता है और बुनकर हाथ से कपड़ा बुनने से पहले एक बीम पर उसे लपेटते हैं।

देश में खादी बुनने वाली कई संस्थाएं हैं। ऐसे में यह स्वाभाविक प्रश्न है कि अन्य खादी संस्थाओं से यह केन्द्र कैसे भिन्न है? यह इस अर्थ में भिन्न है कि इसके बुनकर महज कपड़ा नहीं बुन रहे हैं, बल्कि राष्ट्रीय गौरव का निर्माण कर रहे हैं। गर्ग खादी इकाई एकमात्र केंद्र है जिसे 1975 से राष्ट्रीय ध्वज के कपड़े के उत्पादन के लिए भारतीय मानक ब्यूरो (बीआईएस) ने मान्यता दी है। इस केंद्र के पूर्व अध्यक्ष शंकर राव कुर्तकोटिजी ने खादी और ग्रामोद्योग आयोग (केवीआईसी) से यह महान कार्य हासिल किया और तत्कालीन महाप्रबंधक, शंकरन्ना कारदीगुढाजी मानक पूरा करने के कड़े लक्ष्य प्राप्त करने में सफल रहे। उसके बाद से, इस केंद्र ने वापस मुड़ कर नहीं देखा।

केवीआईसी नियमों के अनुसार, राष्ट्रीय ध्वज बनाने के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला वस्त्र बीआईएस द्वारा निर्धारित मानदंड के अनुरूप होना चाहिए। यहां के कताईकारों और बुनकरों को इस प्रयोजन के लिए विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है। यहां निर्मित वस्त्र की रंगाई और सिलाई मुंबई में की जाती है। हमारे बीआईएस झंडे ज्यादातर केंद्रीय/राज्य सरकारों के सचिवालयों, प्रतिष्ठानों, सशस्त्र बलों, दूतावासों आदि को भेजे जाते हैं। संगठन के अध्यक्ष के रूप में यह सूचित करना मेरा सौभाग्य है कि राष्ट्रपति भवन, संसद भवन, लाल किला, उच्चतम न्यायालय, राज्य विधानसभाओं और ऐसे ही अन्य स्थानों पर लहरा रहे तिरंगे गर्ग खादी केन्द्र में बने हैं।

केंद्र में हर साल लगभग 35-40 हजार मीटर खादी का उत्पादन किया जाता है। जिसमें से 25-30 हजार मीटर केवल ध्वज वस्त्र होता है। केंद्र में लगभग 250 कताईकर्ता और लगभग 50 बुनकर हैं, जो आसपास के 7 गांवों में रहते हैं। केन्द्र में हर वर्ष 1.2 करोड़ से 1.5 करोड़ रुपये मूल्य का ध्वज वस्त्र बनाया जा रहा है।

इस केन्द्र में उत्कृष्ट जयधर सूत के 36 काउंट धागे से बनने वाले झंडे के कपड़े में 40 रैप्स और 38 वैफ्ट्स होते हैं। प्रत्येक वर्ग मीटर कपड़े का वजन 205 ग्राम + या 5 से 10 ग्राम होता है। बुनाई के बाद, कपड़ा 'मुंबई खादी डायर्स एंड प्रिंटर्स' को भेजा जाता है, जहां इसे राष्ट्रीय ध्वज के रूप में रंगा और सिला जाता है। गर्ग केन्द्र में हाथ से बनाए जाने वाले झंडों में भी बुनाई, सिलाई, रंगाई, छपाई

लेखक धारवाड़ तालुक गर्ग क्षेत्रीय सेवा संघ के अध्यक्ष हैं। ईमेल: basavaprabhuh@gmail.com

आदि से संबंधित निर्धारित मानदंड का पूरी तरह अनुपालन किया जाता है। इसके अलावा, तैयार उत्पाद का सत्यापन आईएसआई मानकों की दृष्टि से किया जाता है। बुनकरों को गुणवत्ता की पुष्टि करने के बारे में व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया जाता है। कताई करने वालों के लिए प्रशिक्षण सरल होता है।

प्रत्येक बुनकर प्रति दिन 300/- रुपये से 500/- रुपये और तदनुसार प्रत्येक कताईकर्ता 300/- रुपये से 400/- रुपये प्रति दिन अर्जित करता/करती है। आसपास औद्योगिकीकरण के कारण, युवा खादी के काम में कम रुचि ले रहे हैं, इसे देखते हुए गर्ग केंद्र हर वर्ष वजीफे के आधार पर बुनाई में प्रशिक्षण प्रदान करता है। परन्तु, फिर भी, युवा इस ओर अधिक आकर्षित नहीं हो रहे हैं, संभवत: इसकी वजह यह है कि उन्हें अन्य उद्योगों में बिना अधिक श्रम के, इसके बराबर धनराशि मिल जाती है। फिर भी, परंपरागत रूप से, गांवों में खादी प्रेमी परिवार इस काम के लिए प्रतिबद्ध हैं। कताई और बुनाई दोनों में, महिलाओं की प्रमुख भूमिका है।

राष्ट्रीय ध्वज 9 अलग-अलग आकारों में बनाए जाते हैं, उनमें से 6 आकारों को भारतीय मानक ब्यूरो का चिह्न मिलता है। ये ध्वज 2x3 फुट (सबसे छोटा) से लेकर 14x21 फुट (सबसे बड़ा) के बीच के आकारों में बनाए जाते हैं। गर्ग खादी केंद्र के ध्वज अधिकतर खादी भवन, नई दिल्ली भेजे जाते हैं, जहां से झंडे देश के अन्य हिस्सों में पहुंचते हैं। प्रतिस्पर्धा के इस युग में, मानक रहित/अप्रमाणित ध्वज भी बाजार में दिखाई देते हैं।

महाराष्ट्र और तमिलनाडु में पहले कुछ खादी इकाइयां थीं लेकिन वे बंद हो गई हैं। हाल ही में, हमारा पड़ोसी प्रतिभागी हुबली खादी केंद्र भी इस कार्य में शामिल हुआ है। 12 अक्टूबर, 2019 को भारतीय डाक विभाग ने गर्ग खादी केन्द्र की विशिष्टता दर्शाने के लिए मंगलौर में आयोजित कर्णापेक्स-2019 में एक विशेष आवरण जारी किया।

वर्तमान परिस्थितियों में जबकि माननीय प्रधानमंत्री ने 'आत्मानिर्भर भारत' की घोषणा की है, अगर खादी और ग्रामोद्योग की गतिविधियों को प्राथमिकता दी जाती है, तो मुझे यकीन है कि भारत पूरी दुनिया में एक आदर्श स्थापित कर सकता है। इसकी परिणति 'आत्मनिर्भर विश्व' के रूप में हो सकती है, जो राष्ट्रपिता का सपना था, जिसे पूरा करके उनकी 150वीं जयंती पर उन्हें सही श्रद्धांजलि दी जा सकती है।

इस अवसर पर, मैं अपने देशवासियों से अनुरोध करता हूं कि स्वदेशी विचारधारा के सिद्धांत के रूप में खादी का उपयोग करें, क्योंकि यह केवल कपड़े का टुकड़ा नहीं है, बल्कि एक जीवनशैली है। खादी का एक अलग अर्थशास्त्र है। खादी खरीदते समय हमें यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि एक रुपये में से 50 पैसे स्पिनर और बुनकर के पास जाते हैं, 33 पैसे कपास (किसान), 8 पैसे परिवहन के लिए और शेष 9 पैसे प्रशासन के लिए जाते हैं। इस प्रकार 100 पैसे आम आदमी के अर्थशास्त्र में विभाजित हैं। अत: खादी के साथ किसी अन्य उत्पाद की तुलना नहीं की जा सकती है। खादी ग्रामीण औद्योगीकरण में तेजी लाती है, ग्रामीण बेरोजगारी का उन्मूलन करती है और इसका उद्देश्य सुदृढ़ और आत्मनिर्भर ग्राम अर्थव्यवस्था के गांधीवादी सिद्धांत के अनुरूप देश को अपनी सेवाएं प्रदान करना है।

महात्मा गांधी का दृढ़ विश्वास था कि हमारे देश में, खेती के बाद, केवल खादी ऐसा क्षेत्र है जो श्रमिकों को विकेंद्रीकृत तरीके से और पर्यावरण को प्रदूषित किए बिना, उनकी दहलीज पर बारहमासी रोजगार प्रदान कर सकता है। इतना ही नहीं इससे शहरीकरण के प्रसार और इसकी बुराइयों पर अंकुश लगाने में भी मदद मिलती है। ■

विविध परिदृश्य

कलमकारी : आंध्र प्रदेश

आंध्र प्रदेश में मंदिरों का शहर कहे जाने वाले तिरुपति के पास स्थित कालहस्ती मंदिर उत्सवों के अवसर पर दीवारों को सजाने के लिए 'कलमकारी' से कपड़े पर बनाये गये चित्रों के लिए प्रसिद्ध है। इन चित्रों में रामायण, महाभारत और पुराणों की घटनाओं को चित्रकथाओं के रूप में सिलसिलेवार चित्रित किया जाता है। प्रत्येक घटना को चौकोर वस्त्र पर चित्रित किया जाता है। सबसे पहले कोई सिद्धहस्त चित्रकार हरड़ से उपचारित वस्त्र पर इमली की लकड़ी के कोयले से चित्र की रूपरेखा बना लेता है। ऐसा करते समय वह सामुद्रिक शास्त्र और मुद्रा शास्त्र में वर्णित विभिन्न देवी-देवताओं की विशेषताओं, के साथ-साथ परम्परागत डिजायनों और मोटिफ का भी पूरा ध्यान रखता है। इनमें इस्तेमाल किये जाने वाले रंग वनस्पतियों और खनिज पदार्थों से बनाए जाते हैं। आमतौर पर काले, लाल, नीले और पीले रंगों का उपयोग अधिक होता है और फिटकिरी का उपयोग रंगों को पक्का करने या कुछ खास रंग बनाने के लिए किया जाता है। देवताओं को नीले रंग में चित्रित किया जाता है जबकि राक्षस लाल और हरे रंग से बनाए जाते हैं। नारी चित्र बनाने के लिए पीले रंग का उपयोग किया जाता है और उन्हें आभूषणों से सुसज्जित दिखाया जाता है। लाल रंग का उपयोग आम तौर पर चित्र की पृष्ठभूमि में किया जाता है। सूती कपड़े को बहते पानी में धोकर उस पर से स्टार्च हटाया जाता है और रंगते और विरंजित करते समय भी उसे बहते पानी में धोया जाता है।

एक भारत श्रेष्ठ भारत

सरदार वल्लभभाई पटेल की जयंती मनाने के लिए 31 अक्टूबर, 2015 को आयोजित राष्ट्रीय एकता दिवस के दौरान प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के नागरिकों के बीच एक निरंतर और संरचित सांस्कृतिक संबंध की कल्पना की गई। माननीय प्रधानमंत्री ने प्रतिपादित किया कि सांस्कृतिक विविधता एक हर्ष का विषय है जिसे विभिन्न राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों के लोगों के बीच पारस्परिक संपर्क और आदान-प्रदान के माध्यम से मनाया जाना चाहिए ताकि आपसी समझ की एक आम भावना पूरे देश में गुंजायमान रहे।

देश के प्रत्येक राज्य और केन्द्र शासित प्रदेश को एक वर्ष के लिए किसी अन्य राज्य/केंद्रशासित प्रदेश के साथ जोड़ा जाता है। इस दौरान वे भाषा, साहित्य, भोजन, त्योहारों, सांस्कृतिक कार्यक्रमों, पर्यटन आदि के क्षेत्रों में परस्पर आदान प्रदान करते हैं। पहल के व्यापक उद्देश्य इस प्रकार हैं–

1. हमारे देश की विविधता में एकता को बढ़ावा देने और हमारे देश के लोगों के बीच पारंपरिक रूप से विद्यमान भावनात्मक बंधन के ताने बाने को बनाए रखने और मजबूत करने के लिए;
2. राज्यों के बीच एक साल की योजनाबद्ध जुड़ाव के माध्यम से सभी राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों के बीच एक गहरी और संरचित कार्य योजना के माध्यम से राष्ट्रीय एकीकरण की भावना को बढ़ावा देना;
3. देश की समृद्ध विविधता और संस्कृति, रीति-रिवाजों और परंपराओं के बारे में जानने के लिए लोगों को भारत की विविधता को समझने और उसकी सराहना करने में सक्षम बनाने के लिए, इस प्रकार साझी पहचान की भावना को बढ़ावा देना;
4. लंबी अवधि के जुड़ाव की स्थापना करने के लिए; और
5. राज्यों के बीच सर्वोत्तम परंपराओं और अनुभव साझा करने और आपस में एक दूसरे से सीखने का वातावरण बनाना।

कोविड-19 की मौजूदा परिस्थितियों के मद्देनजर नवोन्मेषी तरीकों का उपयोग कर सरकार के **एक भारत श्रेष्ठ भारत** कार्यक्रम को आगे बढ़ाने का निर्णय लिया गया है।

यह निर्णय एक भारत श्रेष्ठ भारत कार्यक्रम (ईबीएसबी कार्यक्रम) के अंतर्गत साझेदार मंत्रालयों के सचिवों की हाल ही में वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग के माध्यम से हुई एक बैठक में लिया गया। इस बैठक की अध्यक्षता सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय में सचिव तथा मानव संसाधन विकास मंत्रालय में उच्च शिक्षा सचिव श्री अमित खरे ने की।

पर्यटन मंत्रालय ने सूचित किया कि उसके अंतर्गत संस्थाएं पर्यटन से संबंधित विभिन्न पहलुओं पर वेबिनार आयोजित कर रही हैं। मंत्रालय **'देखो अपना देश'** शृंखला के अंतर्गत वेबिनार आयोजित कर रहा है जिसे माइगव पोर्टल पर होस्ट किया जा रहा है। इन वेबिनार्स में हजारों लोग उपस्थित हो रहे हैं।

संस्कृति मंत्रालय भी वेबिनार्स का आयोजन कर रहा है।

ई-हैरिटेजपीडिया और ई-आर्टिस्ट्सपीडिया विकसित करने की पेशकश की गई। यह भी प्रस्ताव दिया गया कि विख्यात कलाकार अपनी कला सिखाने के लिए वर्चुअल कार्यक्रम मॉड्यूल्स भी बना सकते हैं।

विभिन्न भाषाओं में 100 वाक्य सीखने के लिए एक मोबाइल ऐप विकसित किया जा रहा है।

बैठक के बाद कार्रवाई करने योग्य महत्वपूर्ण बिंदुओं की संक्षेप जानकारी निम्नलिखित है–

1. प्रत्येक प्रतिभागी मंत्रालय/विभाग द्वारा ईबीएसबी के अंतर्गत गतिविधियां संचालित करने के लिए डिजिटल माध्यमों का रुख करना।
2. व्यापक प्रसार के लिए 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' विषयों पर वेबिनार आयोजित करना।
3. एक भारत श्रेष्ठ भारत डिजिटल संसाधनों के लिए साझा संग्रह (रिपोज़िटरी) तैयार करना, जिनका उपयोग प्रत्येक मंत्रालय द्वारा किया जा सकेगा। इसको साझा पोर्टल पर होस्ट किया जा सकता है।
4. संशोधित संचार योजना तैयार करने की जरूरत है और ईबीएसबी पर दूरदर्शन का 30 मिनट का साप्ताहिक कार्यक्रम सभी मंत्रालयों से प्राप्त जानकारी पर आधारित होना चाहिए। ■

स्रोत: https://www.mygov.in/campaigns/ebsb/ तथा पत्र सूचना कार्यालय

रजि.सं. डी.एल.(एस)-05/3231/2018-20
Reg. No. D.L.(s)-05/3231/2018-20 at RMS, Delhi
29 जुलाई, 2020 को प्रकाशित
• 2-3 अगस्त, 2020 को डाक द्वारा जारी

Licence Under U (DN)-55/2018-20
आर.एन.आई. 951/57
R.N.I. 951/57

अब प्रिंट संस्करण और ई-बुक संस्करण उपलब्ध

भारत 2020

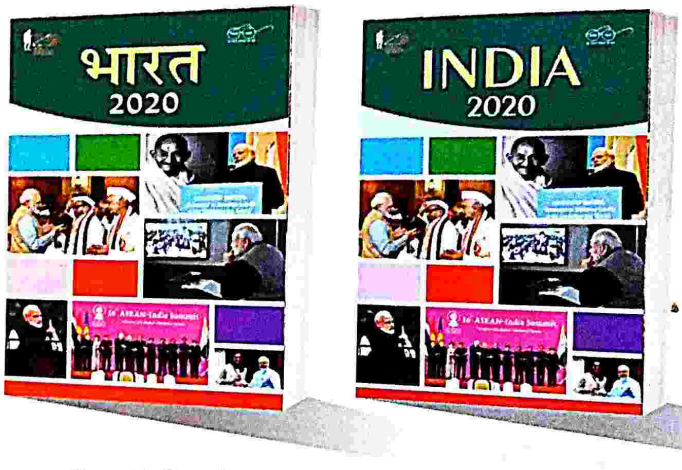

भारत सरकार की नीतियों, कार्यक्रमों और उपलब्धियों की आधिकारिक जानकारी देने वाला वार्षिक संदर्भ ग्रंथ

मूल्यः प्रिंट संस्करण ₹ 300/- ई-बुक संस्करण ₹ 225/-

पुस्तकें खरीदने के लिए प्रकाशन विभाग की वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in पर जाएं

ई-बुक एमेज़ॉन और गूगल प्ले पर उपलब्ध

देश भर में प्रकाशन विभाग के विक्रय केन्द्रों और पुस्तक विक्रेताओं से भी खरीद सकते हैं

ऑर्डर के लिए संपर्क करें :
फोन : 011-24367260
ई-मेल : businesswng@gmail.com
हमारी पुस्तकें ऑनलाइन खरीदने के लिए कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएं।
सूचना भवन की पुस्तक दीर्घा में पधारें

प्रकाशन विभाग
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय,
भारत सरकार
सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्पलेक्स,
लोधी रोड नई दिल्ली -110003
वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in

ट्विटर पर फोलो करें @DPD_India

प्रकाशक व मुद्रकः मोनीदीपा मुखर्जी, महानिदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय (भारत सरकार) द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए चन्दु प्रेस, डी-97, शकरपुर, दिल्ली-110092 द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सी.जी.ओ. परिसर, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित। वरिष्ठ संपादकः कुलश्रेष्ठ कमल